भगवानश्रीकुन्दकुन्द-कहान जैनशास्त्रमाला
पुष्प-२५

वस्तुविज्ञानसार

अध्यात्मयोगी पूज्य श्री कानजी स्वामी के
प्रवचन

अनुवादक
पंडित परमेष्ठीदास जैन
न्यायतीर्थ

प्रकाशक
श्री जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट
सोनगढ़—काठियावाड़

हिंदी भाषानुवाद-प्रथमावृत्ति-प्रति ५०००
विक्रम सवत् २००५, वीर सवत २४७४

मुद्रक
जमनादास माणेकचंद रवाणी
अनेकान्त मुद्रणालय—मोटा आंकड़िया
[काठियावाड़]

प्रस्तावना

यथार्थ वस्तुविज्ञान का रहस्य प्राप्त किये बिना चाहे जितना प्रयत्न किया जाये, चाहे जितना व्रत, नियम, तप, त्याग, वैराग्य, भक्ति, और शास्त्राभ्यास किया जाये तो भी जीव का एक भी भव कम नहीं होता। इसलिये इस मनुष्यभव में जीव का मुख्य कर्तव्य यथार्थतया वस्तुविज्ञान प्राप्त करलेना है। वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा स्वयं प्रत्यक्ष जानकर उपदिष्ट वस्तुविज्ञान विराट है, और वह अनेक आगमों में विस्तरित है। अनेक आगमों के अभ्यासी भी प्रायः उस वस्तुविज्ञान का वास्तविक रहस्य नहीं निकालपाते, इसलिये उस विशाल वस्तुविज्ञान का रहस्यभूत सार इस पुस्तक में (वस्तु-विज्ञानसार में) दिया गया है।

इस पुस्तक में निम्नलिखित रहस्यभूत विषयों को विशेष स्पष्ट किया गया है:--

विश्व का प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है। सामान्य स्वयं ही विशेष रूप से परिणमित होता है। विशेष रूप से परिणमित होने में अन्य किसी भी पदार्थ की उसे वास्तव में किंचित् मात्र भी सहायता आवश्यक नहीं होती। पदार्थ मात्र निरपेक्ष है।

इस प्रकार सर्व स्वतन्त्र होने पर भी विश्वमें अन्धकार नहीं-प्रकाश है, अकस्मात् नहीं-न्याय है, इसलिये 'पुण्यभावरूप विशेष में परिणमित होने वाले जीव द्रव्य को अमुक (अनुकूल कही जानेवाली) सामग्री का ही सयोग प्राप्त होता है, पाप भाव रूप विशेष में परिणमित होनेवाले जीव द्रव्य को अमुक (प्रतिकूल कही जाने वाली) सामग्री का ही सयोग होता है, शुद्धभाव रूप विशेष में परिणमित होने वाले जीव द्रव्य के कर्मादिक सयोग का अभाव ही होता है'-इत्यादि अनेकानेक प्रकार का सहज निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध विश्व के पदार्थों में पाया जाता है। निमित्त नैमित्तिक रूप [illegible]

प्रवर्तमान पदार्थों में लेश मात्र भी परतन्त्रता नहीं है, सब अपने अपने विशेषों से ही स्वतन्त्रतया एवं न्यायसंगतरूप से परिणमित होते रहते हैं।

ऐसा होने से जीव द्रव्य देहादि की क्रिया तो कर ही नहीं सकता, वह मात्र अपने विशेष को ही कर सकता है। संकल्प विकल्प रूप विशेष दुःखमार्ग है, विपरीत पुरुषार्थ है। जगत के स्वरूप को न्यायसंगत और नियत जानकर और यह निर्णय करके कि—पर में अपना कोई कर्तृत्व नहीं है, निज द्रव्य सामान्य की श्रद्धा रूप से परिणमित होकर उसमें लीन हो जानेरूप जो विशेष है वही मुक्त पन्थ है, वही परम पुरुषार्थ है। अज्ञानियों को पर पदार्थ का परिवर्तन कर सकने में ही पुरुषार्थ भासित होता है, संकल्प विकल्पों की तरंगों में ही पुरुषार्थ प्रतीत होता है, परन्तु जिसमें विश्व के सर्व भावों की नियतता का निर्णय गर्भित है ऐसी द्रव्य सामान्य की श्रद्धा करके उसमें डूब जाने का जो यथार्थ परम पुरुषार्थ है, वह उसके ध्यान में ही नहीं आता।

और फिर, जीवों ने आगमों में से उपरोक्त बातों की धारणा भी अनन्त बार करली है, परन्तु सर्व आगमों के सारभूत स्वद्रव्य सामान्य का यथार्थ निर्णय करके उसका रुचिरूप परिणमन नहीं किया। यदि उस रूप परिणमन किया होता तो संसार में परिभ्रमण नहीं होता।

ऐसी वस्तुविज्ञान की अनेक परम हितकारक, रहस्यभूत, साररूप बातें इस पुस्तक में स्पष्टतया समझाई गई है इसलिये इस पुस्तक का नाम 'वस्तुविज्ञान सार' रखा गया है। परम पूज्य अध्यात्मयोगी श्री कानजी स्वामी सोनगढ़ में मुमुक्षुओं के समक्ष सदा जो आध्यात्मिक प्रवचन करते हैं उनमें से वस्तु विज्ञान के सारभूत कुछ प्रवचन इस पुस्तक में प्रकाशित किये गये हैं। जो मुमुक्षु इनमें कथित विज्ञानसार का अभ्यास करके, चिंतन करके निर्बाध युक्तिरूप प्रयोग से सिद्ध करके निर्णीत करके चैतन्य सामान्य की रुचिरूप परिणमित होकर उसमें लीन होंगे वे अवश्य शाश्वत्-परमानन्द दशा को प्राप्त होंगे।

जो जीव शारीरिक क्रियाकांड में या बाह्य प्रवृत्तियों में धर्म का अंश भी मानते हों, जो वैराग्य भक्ति आदि शुभभावों में धर्म मानते हों, जो शुभभाव में धर्म को किंचित्मात्र कारण मानते हों, और जो जीव निर्णय के बिना ही शास्त्रों की मात्र धारणा से किंचित् धर्म मानते हों वे सभी प्रकार के जीव इस पुस्तक में कहे गये परम प्रयोजनभूत भावों को जिज्ञासुभाव से शांतिपूर्वक गम्भीरतया विचार करें और अनन्त काल से चली आनेवाली मूलभूत भूल कितनी सूक्ष्म है, तथा वह किस प्रकार के अपूर्व सत्य-सम्यक् पुरुषार्थ को चाहती है, यह समझकर निज कल्याण करें। इसीमें मानव जीवन की सफलता है।

रामजी माणेकचंद दोशी

अध्यक्ष,

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (काठियावाड़)

मगसिर शुक्ला

पूर्णिमा

वीर संवत् २४७४

विषयसूची

वस्तुविज्ञानसार

अध्यात्मयोगी पूज्य श्री
कानजी स्वामी के प्रवचन

अनन्त पुरुषार्थ

'वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होती है तथापि पुरुषार्थ के विना शुद्ध पर्याय प्रगट नहीं होती' मुख्यतया इसी सिद्धान्त पर यह प्रवचन है। इस प्रवचन मे निम्न लिखित विषयों के स्वरूपका स्पष्टीकरण होजाता है:—

१– पुरुषार्थ, २– सम्यग्दृष्टि की धर्मभावना, ३– सर्वज्ञ की यथार्थ श्रद्धा, ४– द्रव्य दृष्टि, ५– जड़ और चेतन पदार्थों की क्रम-बद्ध पर्याय, ६– उपादान निमित्त, ७– द्रव्य गुण पर्याय, ८– सम्यग्दर्शन, ९– कर्तृत्व और ज्ञातृत्व, १०– साधक दशा, ११– कर्म में उदीरणा इत्यादि के प्रकार १२– मुक्ति की निःसन्देह प्रति-ध्वनि, १३– सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि, १४– अनेकान्त और एका-न्त, १५– पांच समवाय, १६– अस्ति–नास्ति, १७–निमित्त–नैमि-त्तिक संबंध, १८– निश्चय व्यवहार, १९– आत्मज्ञ और सर्वज्ञ, २०– निमित्त की उपस्थिति होने पर भी निमित्त के विना कार्य होता है।

ऐसे अनेक पहलुओं से–प्रकारान्तर से बारंबार स्वतंत्र पुरुषार्थ को सिद्ध किया है, और इस प्रकार पुरुषार्थस्वभावी आत्मा की पहचान कराई है। जिज्ञासुजन इस प्रवचन के रहस्य को समझकर आत्मा के स्वतंत्र सत्य पुरुषार्थ की पहचान कर के उस ओर उन्मुख हों, यही भावना है। —सम्पादक।

स्वामि कार्तिकेय आचार्यने तीन गाथाओं में यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुस्वरूप का कैसा चिंतवन करते है, तथा किस प्रकार पुरुषार्थ की भावना करते हैं। यह विशेष ज्ञातव्य है, इस लिये यहाँ उसका वर्णन किया जा रहा है। वे मूल गाथायें इस प्रकार है.—

ज जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णाद जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥ ३२१॥
त तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा ॥ ३२२॥

अर्थः— जिस जीवको जिस देशमें जिस काल में जिस विधि से जन्म-मरण सुख-दुःख तथा रोग और दारिद्रय इत्यादि जैसे सर्वज्ञ देवने जाने है उसी प्रकार वे सब नियम से होंगे। सर्वज्ञदेव ने जिस प्रकार जाना है उसी प्रकार उस जीव के उसी देश में उसी काल में और उसी विधि से नियम पूर्वक सब होता है। उसके निवारण करने के लिए इन्द्र या जिनेन्द्र तीर्थंकर देव कोई भी समर्थ नहीं है।

भावार्थः— सर्वज्ञदेव समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अवस्थाओं को जानते है। सर्वज्ञ के ज्ञानमें जो कुछ प्रतिभासित हुआ है, वह सब निश्चय से होता है, उसमें हीनाधिक कुछ भी नहीं होता। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि विचार करता है। (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृष्ठ १२४)

इस गाथा में यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि की धर्मानुप्रेक्षा कैसी होती है। सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु के स्वरूप का किस प्रकार चिंतवन करता है यह बात यहाँ बताई है। सम्यग्दृष्टि की यह भावना दुःख में धीरज दिलाने के लिये अथवा झूठा आश्वासन देने के लिये नहीं है, किन्तु जिनेन्द्र देव के द्वारा देखा गया वस्तुस्वरूप जिस प्रकार है उसी प्रकार स्वयं चिंतवन करता है। वस्तुस्वरूप ऐसा ही है। यह कोई कल्पना नहीं है, यह धर्म की बात है। 'जिस काल में जो होने वाली अवस्था सर्वज्ञ भगवान ने देखी है उस काल में वही अवस्था होती है, दूसरी नहीं होती।' इस में एकान्तवाद या

नियतवाद नहीं है, किन्तु सच्चा अनेकान्तवाद और सर्वज्ञता की भावना तथा ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ निहित है ।

आत्मा सामान्य–विशेषस्वरूप वस्तु है, अनादि अनन्त ज्ञानस्वरूप है। उस सामान्य और उस ज्ञान में से समय समय पर जो पर्याय होती है वह विशेष है। सामान्य स्वयं ध्रुव रहकर विशेषरूप में परिणमन करता है; उस विशेष पर्याय में यदि स्वरूप की रुचि करे तो समय समय पर विशेष में शुद्धता होती है, और यदि उस विशेष पर्याय में ऐसी विपरीत रुचि करे कि 'जो रागादि व देहादि है वह मैं हूं' तो विशेष में अशुद्धता होती है। और यदि स्वरूप की रुचि करे तो शुद्ध पर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है, और यदि विकार की—पर की रुचि होती है तो अशुद्ध पर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है। चैतन्य की क्रमबद्धपर्याय में अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु क्रमबद्ध का ऐसा नियम है कि जिस ओर की रुचि करता है उस ओर की क्रमबद्ध दशा होती है । जिसे क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा होती है उसे द्रव्य की रुचि होती है और जिसे द्रव्य की रुचि होती है उसकी क्रमबद्ध पर्याय शुद्ध ही होती है, अर्थात् सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्ध पर्याय ही होती है । उस में कोई अन्तर नहीं पड़ता । इतना निश्चय करने में तो द्रव्य की ओर का अनन्त पुरुषार्थ आजाता है । यहां पर्याय का क्रम नहीं बदलना है किन्तु अपनी ओर रुचि करनी है ।

प्रश्न— जगत के पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है । जड़ अथवा चेतन इत्यादि में एक के बाद दूसरी क्रमबद्ध अवस्था जैसी श्री सर्वज्ञ देव ने देखी है उसी के अनुसार अनादि अनन्त समयबद्ध होती है तब फिर इसमें पुरुषार्थ करने की बातही कहां रही ?

उत्तर— मात्र आत्मा की ओर का ही पुरुषार्थ किया जाता है तब ही क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा होती है । जिसने अपने आत्मा में क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय किया कि अहो ! जड़ और चैतन्य सभी की अवस्था क्रमबद्ध स्वयं हुआ करती है, मैं परमें क्या कर सकता हूँ ? मेरा ऐसा स्वरूपहै

कि मात्र जैसा होता है मैं वैसा ही जानता हूं; ऐसे निर्णय में उसे पर की अवस्था में अच्छा बुरा मानना नहीं रह जाता, किन्तु ज्ञातृत्व ही रहता है; अर्थात् विपरीत मान्यता और अनन्तानुबधी कषाय का नाश हो जाता है। अनन्त पर द्रव्य के कर्तृत्व का महा मिथ्यात्व भाव दूर हो कर अपने ज्ञाता स्वभाव की अनन्त दृढता हो जाती है, और अपनी ओर का ऐसा अनन्त पुरुषार्थ क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा में आजाता है।

समस्त द्रव्यो की अवस्था क्रमबद्ध होती है। मैं उसे जानता हूं किन्तु किसी का कुछ नहीं करता, ऐसी मान्यता के द्वारा मिथ्यात्व का नाश करके पर से हटकर जीव अपनी ओर झुकता है। सर्वज्ञदेव के ज्ञान में जो प्रतिभासित हुआ है उसमें कोई अन्तर नहीं पडता, समस्त पदार्थों की समय समय पर जो अवस्था क्रमबद्ध होती है वही होती है। ऐसे निर्णय में सम्यग्दर्शन भी आजाता है। इस में पुरुषार्थ किस प्रकार आया सो बतलाते है।

१—पर की अवस्था उसके क्रमानुसार होती ही रहती है, मैं पर का कुछ नही करता, यह निश्चय किया कि सभी पर द्रव्यो का अभिमान दूर होजाता है।

२—विपरीत मान्यता के कारण पर की अवस्था में अच्छा बुरा मानकर जो अनन्तानुबधी रागद्वेष करता था वह दूर हो गया। इस प्रकार क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा करनेपर पर द्रव्य के लक्ष से हटकर स्वयं राग–द्वेष रहित अपने ज्ञाता स्वभाव में आगया अर्थात् अपने हित के लिये परमुखापेक्षा रुक गई और ज्ञान अपनी ओर प्रवृत्त हो गया। अपने द्रव्य में भी एक के बाद दूसरी अवस्था क्रमबद्ध होती है। मैं तो तीनो काल की क्रमबद्ध अवस्थाओं का पिंडरूप द्रव्य हूं, वस्तु तो ज्ञाता ही है, एक अवस्था जितनी वस्तु नहीं है। अवस्था में जो राग द्वेष होता है वह पर वस्तु के कारण नही किन्तु वर्तमान अवस्था की दुर्बलता से होता है, उस दुर्बलता को भी देखना नही रहा। किन्तु पुरुषार्थ से परिपूर्ण ज्ञाता स्वरूप में ही देखना रहा। उस स्वरूप के लक्ष से पुरुषार्थ की दुर्बलता अल्प काल मे टूट जायगी।

क्रमबद्ध पर्याय द्रव्य में से आती है पर पदार्थ में से नहीं, तथा एक पर्याय में से दूसरी पर्याय प्रगट नहीं होती, इसलिए अपनी पर्याय के लिए परद्रव्य की ओर अथवा पर्याय को देखना नहीं रहा किन्तु मात्र ज्ञाता स्वरूप को ही देखना रहा। जिसकी ऐसी दशा होजाती है, समझना चाहिये कि उसने सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय कर लिया है।

प्रश्न—सर्वज्ञ भगवान ने देखा हो तभी तो आत्मा की रुचि होती है न?

उत्तर—यह किसने निश्चय किया कि सर्वज्ञ भगवान सब कुछ जानते है? जिसने सर्वज्ञ भगवान की ज्ञान शक्ति को अपनी पर्याय में निश्चित किया है उसकी पर्याय ससार से और राग से हटकर अपने स्वभाव की ओर लग गई है, तभी वह सर्वज्ञ का निर्णय करता है। जिसकी पर्याय ज्ञान स्वभाव की ओर होगई है उसे आत्मा की ही रुचि होती है। जिसने यह यथार्थतया निश्चय किया कि 'अहो! केवली भगवान तीन काल और तीन लोक के ज्ञाता है; वे अपने ज्ञान से सब कुछ जानते है किन्तु किसी का कुछ नही करते' उसने अपने आत्मा को ज्ञाता स्वभाव के रूप में मान लिया और उसकी तीन काल और तीन लोक के समस्त पदार्थों की कर्तृत्व बुद्धि दूर हो गई है अर्थात् अभिप्राय की अपेक्षा से वह सर्वज्ञ हो गया है। ऐसा स्वभाव का अनन्त प्रसाद क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा में आता है। क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा नियतवाद नहीं है, किन्तु सम्यक् पुरुषार्थ-वाद है।

प्रस्तुत द्रव्यों की एक के बाद दूसरी जो अवस्था होती है उसका कर्ता स्वय वही द्रव्य होता है, किन्तु मै उसका कर्ता नही हू और न मेरी अवस्था का कोई अन्य कर्ता है। किसी निमित्त कारण से रागद्वेष नहीं होते। इस प्रकार निमित्त और रागद्वेष को जानने वाली मात्र ज्ञान की अवस्था रह जाती है, वह अवस्था ज्ञाता स्वरूप को ही जानती है राग को जानती है, और सभी पर को भी जानती है, मात्र जानना ही ज्ञान का

स्वरूप है। जो राग होता है वह ज्ञान का ज्ञेय है, किन्तु राग उस ज्ञान का स्वरूप नहीं है—ऐसी श्रद्धा में ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट रहता है। यह समझने के लिये ही आचार्य देव ने यहाँ पर दो गाथायें देकर वस्तुस्वरूप बताया है। सम्यग्दृष्टि का अभी केवलज्ञान नहीं हुआ, इससे पूर्व अपने केवलज्ञान की भावना को करता हुआ वस्तुस्वरूप का विचार करता है। सर्वज्ञता होने पर वस्तुस्वरूप कैसा ज्ञात होगा इसका चिन्तवन करता है।

आत्मा की अवस्था क्रमबद्ध होती है। जब आत्मा की जो अवस्था होती है तब उस अवस्था के लिये अनुकूल निमित्तरूप पर वस्तु स्वयं उपस्थित होती ही है। आत्मा की क्रमबद्ध पर्याय की जो योग्यता होती हो उसके अनुसार यदि निमित्त न आये तो वह पर्याय कहीं अटक जायेगी ऐसी बात नहीं है। यह प्रश्न ही अज्ञान से परिपूर्ण है कि यदि निमित्त न होगा तो यह कैसे होगा? उपादानस्वरूप की दृष्टि वाले के यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता। वस्तु में अपने क्रम से जब अवस्था होती है तब निमित्त होता ही है, ऐसा नियम है।

धूप, परमाणुओं की ही प्रकाशमान दशा है, और छाया भी परमाणुओं की काली दशा है। परमाणुओं में जिस समय काली अवस्था होती है उसी समय काली अवस्था उनके द्वारा स्वयं होती है, और उस समय सामने दूसरी वस्तु उपस्थित होती ही है। परमाणु की काली दशा के क्रम को बदलने के लिये कोई समर्थ नहीं है। धूप में बीच में हाथ रखने पर नीचे जो परछाई पड़ती है वह हाथ के कारण नहीं होती, किन्तु वहां के परमाणुओं की ही उस समय क्रमबद्ध अवस्था काली होती है। अमुक परमाणुओं में दोपहर को तीन बजे काली अवस्था होनी है ऐसा सर्वज्ञदेव ने देखा है और यदि उस समय हाथ न आये तो क्या उन परमाणुओं की ३ बजे होने वाली दशा अटक जायेगी? नहीं, ऐसा बनता ही नहीं। परमाणुओं में ठीक ३ बजे काली अवस्था होनी हो, तो ठीक उसी समय हाथ इत्यादि निमित्त

स्वयं उपस्थित होते ही है। सर्वज्ञदेव ने अपने ज्ञान में यह देखा हो कि ३ बजे अमुक परमाणुओं की काली अवस्था होनी है, और यदि निमित्त का अभाव होने से अथवा निमित्त के विलम्ब से आने के कारण वह अवस्था विलम्ब से हो तो सर्वज्ञ का ज्ञान गलत ठहरेगा; किन्तु यह असम्भव है। जिस समय वस्तु की जो क्रमबद्ध अवस्था होनी होती है, उस समय निमित्त उपस्थित न हो यह हो ही नहीं सकता। निमित्त होता तो है किन्तु वह कुछ करता नहीं है।

यहाँ पुद्गल का दृष्टान्त दिया गया है। इसी प्रकार अब जीव का दृष्टान्त देकर समझाते है। किसी जीव के केवलज्ञान प्रगट होना हो और शरीर में वज्रवृषभनाराचसंहनन न हो तो केवलज्ञान रुक जायेगा, ऐसी मान्यता बिल्कुल असत्य एवं पराधीन दृष्टि वाले की है। जीव केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी में हो और शरीर मे वज्रवृषभनाराचसंहनन न हो ऐसा कदापि नहीं हो सकता। जहाँ उपादान स्वयं सन्नद्ध हो वहाँ निमित्त स्वयं उपस्थित होता ही है। जिस समय उपादान कार्य रूप में परिणत होता है उसी समय दूसरी वस्तु निमित्त रूप उपस्थित होती है। निमित्त बाद मे आता हो सो बात नहीं है। जिस समय उपादान का कार्य होता है उसी समय निमित्त की उपस्थिति भी होती है, ऐसा होने पर भी निमित्त—उपादान के कार्य मे किसी भी प्रकार की सहायता, असर प्रभाव अथवा परिवर्तन नहीं करता। यह नहीं हो सकता कि निमित्त न हो। और निमित्त से कार्य हो ऐसा भी नहीं हो सकता। चेतन अथवा जड द्रव्य में उसकी अपनी जो क्रमबद्ध अवस्था जब होनी होती है तब अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं। ऐसा जो स्वाधीन दृष्टि का विषय है उसे सम्यग्दृष्टि ही जानता है, मिथ्यादृष्टियों को वस्तु की स्वतन्त्रता की प्रतीति नहीं होती, इसलिये उनकी दृष्टि निमित्त पर जाती है।

अज्ञानी को वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नही है, इसलिये वस्तु की क्रमबद्ध पर्याय में शका करता है कि यह ऐसा कैसे हो गया? उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की और वस्तु की स्वतन्त्रता की प्रतीति नहीं है, ज्ञानी को वस्तुस्वरूप

में शंका नहीं होती । वह जानता है कि जिस काल में जिस वस्तु की जो पर्याय होती है वह उसकी क्रमबद्ध अवस्था है, मैं तो मात्र जानने वाला हूँ। इस प्रकार ज्ञानी को अपने ज्ञातृत्व स्वभाव की प्रतीति होती है । इसलिये सर्वज्ञ भगवान के द्वारा जाने गये वस्तुस्वरूप का चिंतवन करके वह अपने ज्ञान की भावना को बढाता है कि जिस समय जो जैसा होता है उसका मैं वैसा ज्ञायक ही हूँ, अपने ज्ञायक स्वरूप की भावना करते करते मेरा केवलज्ञान प्रगट हो जायगा ।

ऐसी भावना केवली भगवान के नहीं होती किन्तु जिसे अभी अल्प रागद्वेष होता है ऐसे चौथे, पाचवें और छठे गुणस्थान वाले ज्ञानी की धर्म भावना का यह विचार है । इस में यथार्थ वस्तुस्वरूप की भावना है । यह कोई मिथ्या कल्पना या दुःख के आश्वासन के लिए नहीं है । सम्यग्दृष्टि किसी भी सयोग–वियोग को आपत्ति का कारण नहीं मानते, किन्तु ज्ञान की अपूर्ण दशा के कारण अपनी दुर्बलता से अल्प रागद्वेष होता है–उस समय सपूर्ण ज्ञान दशा किस प्रकार की होती है इस का वे इस तरह चितवन करते हैं ।

जिस काल में जिस वस्तु की जो अवस्था सर्वज्ञ देव के ज्ञान में ज्ञात हुई है उसी प्रकार क्रमबद्ध अवस्था होगी । भगवान तीर्थंकरदेव भी उसे बदलने मे समर्थ नही है । देखिये, इसमें सम्यग्दृष्टि की भावना की निःशकता का कितना बल है ! 'भगवान भी उसे बदलने मे समर्थ नही है' यह कहने में वास्तव में अपने ज्ञान की निःशकता ही है । सर्वज्ञदेव मात्र ज्ञाता है किन्तु वे किसी भी तरह का परिवर्तन करने में समर्थ नहीं है, तब फिर मैं तो कर ही क्या सकता हूँ ? मैं भी मात्र ज्ञाता ही हूँ। इस प्रकार उसे अपने ज्ञान की पूर्णता की भावना का बल है ।

जिस क्षेत्र में जिस शरीर के जीवन या मरण, सुख या दुःख का सयोग–वियोग जिस विधि से होना है उस में किंचित् मात्र भी अतर नही आ सकता । साप का काटना, पानी में डूबना, अग्नि मे जलना इत्यादि

जो संयोग होना है उसे बदलने में कोई भी तीनकाल और तीनलोक में समर्थ नहीं है। स्मरण रहे कि इसमें महानतम सिद्धांत निहित है जो कि मात्र पुरुषार्थ को सिद्ध करता है। इसमें स्वामि कार्तिकेय आचार्य ने बारह भावनाओं का स्वरूप वर्णित किया है। वे महा सन्त-मुनि थे, वे दो हजार वर्ष पूर्व हो गये हैं। वस्तुस्वरूप को दृष्टि में रखकर इस शास्त्र में भावनाओं के स्वरूप का वर्णन किया गया है। यह शास्त्र सनातन जैन परम्परा में बहुत प्राचीन माना जाता है। स्वामि कार्तिकेय के सम्बन्ध में श्रीमद राजचन्द्र ने भी कहा है कि—'नमस्कार हो उन स्वामि कार्तिकेय को!' इन महा सन्त-मुनि के कथन में बहुत गहन रहस्य भरा हुआ है।

'जो जिस जीवके' अर्थात् सभी जीवों के लिये यही नियम है कि जिस जीव को जिस काल में जीवन मरण इत्यादि का कोई भी संयोग, सुख दुःख का निमित्त आने वाला है उसमें परिवर्तन करने के लिये देवेन्द्र, नरेन्द्र अथवा जिनेन्द्र इत्यादि कोई भी समर्थ नहीं है। यह सम्यग्दृष्टि जीव का यथार्थ ज्ञान की पूर्णता की भावना का विचार है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, उसे अपने ज्ञान में लिया जाता है। किन्तु किसी संयोग के भय से आड लेने के लिये यह विचार नहीं है। एक पर्याय में तीनकाल और तीनलोक के पदार्थों का ज्ञान इस प्रकार ज्ञात हो जाये, सम्यग्दृष्टि जीव इसका विचार करता है।

यहां सुख दुःख के संयोग की बात की गई है। संयोग के समय भीतर स्वयं जो शुभ या अशुभ भाव होता है वह आत्मा के वीर्य का कार्य है। पुरुषार्थ की दुर्बलता से राग-द्वेष होता है वहाँ सम्यग्दृष्टि अपनी पर्याय की हीनता को स्व-लक्ष से जानता है; वह यह नहीं मानता कि संयोग के कारण से निज को रागद्वेष होता है; किन्तु वह यह मानता है कि जैसा सर्वज्ञदेव ने देखा है वैसा ही संयोग वियोग क्रमशः होता है। मिथ्यादृष्टि जीव यह मानता है कि पर संयोग के कारण से निज को रागद्वेष होता है इसलिए वह संयोग को बदलना चाहता है; उसे वीतराग शासन के प्रति श्रद्धा

नहीं है, और उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की भी श्रद्धा नहीं है क्योंकि जो कुछ होता है वह सब सर्वज्ञदेव के ज्ञान के अनुसार होता है फिर भी वह शंका करता है कि ऐसा क्यों कर हुआ ? यदि उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा हो तो उसे यह निश्चय करना चाहिए कि जो कुछ सर्वज्ञदेव ने देखा है उसी के अनुसार सब कुछ होता है, और ऐसा होने से यह मान्यता दूर हो जाती है कि संयोग के कारण अपने में रागद्वेष होता है। और यह मान्यता भी दूर हो जाती है कि मैं संयोग को बदल सकता हूं। जो इस सम्बन्ध में थोड़ा सा भी अन्यथा मानता है, समझना चाहिये कि उसे वीतराग शासन के प्रति थोड़ी भी श्रद्धा नहीं है।

जिस जीव को जिस निमित्त के द्वारा जो अन्न-जल मिलना होता है उस जीव को उसी निमित्त के द्वारा वे ही रज-कण मिलेंगे उसमें एक समय मात्र अथवा एक परमाणु मात्र का परिवर्तन करने के लिए कोई समर्थ नहीं है। जीवन मरण सुख दुःख और दरिद्रता इत्यादि जो जब जैसा होने वाला है वैसा ही होगा, उसमें लाख प्रकार की सावधानी रखने पर भी किंचित् मात्र परिवर्तन नहीं हो सकता, उसे इन्द्र, नरेन्द्र, अथवा जिनेन्द्र आदि कोई भी बदलने में समर्थ नहीं है। इसमें नियतवाद नहीं है किन्तु मात्र ज्ञायकपन का पुरुषार्थवाद ही है।

'जैसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है वैसा ही होता है, इसमें किंचित् मात्र भी परिवर्तन नहीं होता' ऐसी दृढ प्रतीति को नियतवाद नहीं कहते किन्तु यह तो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा का पुरुषार्थवाद है। सम्यग्दर्शन के बिना यह बात नहीं जमती। पर में कुछ नहीं देखना है किंतु निज में ही देखना है। जिस की दृष्टि मात्र पर पदार्थ पर ही है उसे भ्रम से ऐसा लगता है कि यह तो नियतवाद है किन्तु यदि स्व वस्तु की ओर से देखे तो इस में मात्र स्वाधीन तत्त्वदृष्टि का पुरुषार्थ ही भरा हुआ है, वस्तु का परिणमन सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्ध होता है, जहां ऐसा निश्चय किया कि जीव समस्त पर द्रव्यों से उदास हो जाता है और इसलिये उसे स्व-

द्रव्य में ही देखना होता है और उसी में सम्यक्त्व पुरुषार्थ आ जाता है। इस पुरुषार्थ में मोक्ष के पाँचों समवाय समाविष्ट हो जाते हैं। इस क्रम-बद्ध पर्याय की श्रद्धा के भाव सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान का अवलंबन करने वाले हैं यह भाव तीनकाल और तीनलोक मे बदलने वाले नहीं है। यदि सर्वज्ञ का केवलज्ञान गलत हो जाय तो यह भाव बदले, जो कि सर्वथा अशक्य है। जगत, जगत ही है, यदि जगत के जीवों के यह बात नहीं बैठती तो इस से क्या? जो वस्तु-स्वरूप सर्वज्ञदेव ने देखा है वह कभी नहीं बदल सकता। जैसा सर्वज्ञदेव ने देखा है वैसा ही होता है, इसमें जो शंका करना है वह मिथ्यादृष्टि है। निमित्त और संयोग मे मैं परिवर्तन कर सकता हूं ऐसा मानने वाला सर्वज्ञ के ज्ञान में शंका करता है, और इसलिये वह प्रगट रूप मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मूढ है।

अहो! इस एक सत्य को समझ लेने पर जगत के समस्त द्रव्यों के प्रति कितना उदासीन भाव हो जाता है। चाहे कम खाने का भाव करे या अधिक खाने का भाव करे किन्तु जितने और जो परमाणु आना हैं उतने और वे ही परमाणु आयेंगे, उनमें से एक भी परमाणु को बदलने में कोई जीव समर्थ नहीं है। बस ऐसा जानकर शरीर का और पर का कर्तृत्व छूटकर ज्ञान स्वभाव की प्रतीति होनी चाहिये। इसे मानने में अनन्त वीर्य अपनी ओर कार्य करता है। पर का कर्तृत्व अन्तरंग से मानता हो, पर में मुख बुद्धि हो, और कहे कि जो होना है सो होगा यह तो शुष्कता है, यह बात ऐसी नहीं है। जब अनन्त पर द्रव्यों से पृथक् होकर जीव मात्र स्वाभाव में संतोष मानता है तब यह बात यथार्थ बैठती है, इसकी स्वीकृति मे तो सभी पर पदार्थों से हटकर ज्ञान, ज्ञान में ही लगता है, अर्थात् मात्र वीतराग भाव का पुरुषार्थ प्रगट हुआ है। नरेन्द्र, देवेन्द्र अथवा जिनेन्द्र तीनकाल और तीन-लोक मे एक परमाणु को भी बदलने में समर्थ नहीं है। जिसके ऐसी प्रतीति है वह ज्ञान की ओर उन्मुख हुआ है और उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त है, वह क्रमश ज्ञान की दृढ़ता के बल मे राग का नाश करके अल्पकाल

में ही केवलज्ञान को प्राप्त कर लेगा, क्यों कि यह निश्चय किया हुआ है कि सब कुछ क्रमबद्ध ही होता है इसलिये वह अब ज्ञाता भाव से जानता ही है, ज्ञान की एकाग्रता की कचाई क कारण वर्तमान मे कुछ अपूर्ण जानता है और अल्प राग द्वेष भी होता है, परन्तु मैं तो ज्ञान ही हूं ऐसी श्रद्धा के बल से पुरुषार्थ की पूर्णता करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा, इसलिये 'मैं तो ज्ञाता स्वरूप हूं, पर पदार्थों की क्रिया स्वतन्त्र होती है उसका मैं कर्ता नहीं हूं किंतु ज्ञाता ही हूं,' इस प्रकार की यथार्थ श्रद्धा ही केवलज्ञान को प्रगट करने का एक मात्र अपूर्व और अफर (अप्रतिहत) उपाय है।

जो कुछ वस्तु में होता है वह सब केवली जानता है और जो कुछ केवली ने जाना है वह सब वस्तु में होता है। इस प्रकार ज्ञेय और ज्ञायक का परस्पर मेल-सम्बंध है। यदि ज्ञेय ज्ञायक का मेल न माने और कर्ता कर्म का किंचितमात्र भी मेल माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। केवल-ज्ञानी सम्पूर्ण ज्ञायक है, उनके किसी भी पदार्थ के प्रति कर्तृत्व या रागद्वेष भाव नहीं होता। सम्यग्दृष्टि के भी ऐसी श्रद्धा होती है कि केवलज्ञानी की तरह मैं भी ज्ञाता ही हूँ, मैं किसी भी वस्तु का कुछ नहीं कर सकता तथा किसी वस्तु के कारण मुझ मे कुछ परिवर्तन नही होता, यदि अस्थिरता से राग हो जाये तो वह मेरा स्वरूप नही है। इस प्रकार श्रद्धा की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि भी ज्ञायक ही है। जिसने यह माना कि नियम पूर्वक वस्तु की क्रमबद्ध दशा होती है वह वस्तु स्वरूप का ज्ञाता है।

हे भाई! यह नियतवाद नही है, किन्तु अपने ज्ञान म समस्त पदार्थों के नियति (क्रमबद्ध अवस्थाओं) का निर्णय करने वाला पुरुषार्थवाद है। जब कि समस्त पदार्थों की क्रमबद्ध अवस्था होती है तो मैं उसके लिये क्या करूं? मैं किसी की अवस्था का क्रम बदलने के लिये समर्थ नही हूं। मेरी क्रमबद्ध अवस्था मेरे द्रव्य स्वभाव में से प्रगट होती है, इसलिये मैं अपने द्रव्य स्वभाव मे एकाग्र रह कर सब का ज्ञाता ही हूं—ऐसी स्वभाव-दृष्टि (द्रव्यदृष्टि) में अनंत पुरुषार्थ आ जाता है।

प्रश्न—जब कि सभी क्रमबद्ध है और उसमें जीव कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकता तो फिर जीव में पुरुषार्थ कहाँ रहा?

उत्तर—सब कुछ क्रमबद्ध है, इस निर्णय में ही जीव का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट है, किन्तु उसमें कोई परिवर्तन करना आत्मा के पुरुषार्थ का कार्य नहीं है। भगवान जगत का सब कुछ मात्र जानते ही है किन्तु वे भी कोई परिवर्तन नहीं कर सकते, तब क्या इससे भगवान का पुरुषार्थ परिमित हो गया? नहीं, नहीं, भगवान का अनन्त अपरिमित पुरुषार्थ अपने ज्ञान में समाविष्ट है। भगवान का पुरुषार्थ निज में है, पर में नहीं। पुरुषार्थ जीव द्रव्य की पर्याय है इसलिए उसका कार्य जीव की ही पर्याय में होता है किन्तु जीव के पुरुषार्थ का कार्य पर में नहीं होता।

जो यह मानता है कि सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान दशा आत्मा के पुरुषार्थ के बिना होती है वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी प्रतिक्षण स्वभाव की पूर्णता के पुरुषार्थ की भावना करता है। अहो! जिनका पूर्ण ज्ञायक स्वभाव प्रगट हो गया है वे केवलज्ञानी हैं; उनके ज्ञान में सब कुछ एक ही साथ ज्ञात होता है। ऐसी प्रतीति करने पर स्वयं भी निजदृष्टि से देखने वाला ही रहा, ज्ञान के अतिरिक्त पर का कर्तृत्व अथवा रागादिक सब कुछ अभिप्राय में से दूर हो गया। ऐसी द्रव्यदृष्टि के बल से ज्ञान की पूर्णता की भावना में वस्तु स्वरूप का चिंतवन करता है। यह भावना ज्ञानी की है, अज्ञानी मिथ्या दृष्टि की नहीं है क्यों कि मिथ्यादृष्टि जीव पर का कर्तृत्व मानता है और कर्तृत्व की मान्यता वाला जीव ज्ञातृत्व की यथार्थ भावना नहीं कर सकता, क्योंकि कर्तृत्व और ज्ञातृत्व का परस्पर विरोध है।

'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा है वही होता है। यदि हम उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते तो फिर उसमें पुरुषार्थ नहीं रहता,' इस प्रकार जो मानते हैं वे अज्ञानी हैं। हे भाई! तू किसके ज्ञान से बात करता है? अपने ज्ञान से या दूसरे के ज्ञान से? यदि तू अपने ज्ञान से ही बात करता है तो फिर जिस ज्ञान ने सर्वज्ञ को और सभी

द्रव्यों की अवस्था का निर्णय कर लिया उस ज्ञान में स्वद्रव्य का निर्णय न हो यह हो ही कैसे सकता है? स्वद्रव्य का निर्णय करने वाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ है।

तूने अपने तर्क में कहा है कि 'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा हो वैसा होता है' तो वह मात्र बात करने के लिए कहा है—अथवा तुझे सर्वज्ञ के केवलज्ञान का निर्णय है? पहले तो यदि तुझे केवलज्ञान का निर्णय न हो तो सर्व प्रथम वह निर्णय कर, और यदि तू सर्वज्ञ के निर्णय पूर्वक कहता हो तो सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान का निर्णय वाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ आ ही जाता है। सर्वज्ञ का निर्णय करने में ज्ञान का अनन्त वीर्य कार्य करता है तथापि उसमें इन्कार करके तू कहता है कि क्रमबद्ध पर्याय में पुरुषार्थ कहां रहा? सच तो यह है कि तुझे पूर्ण केवलज्ञान के स्वरूप की ही श्रद्धा नहीं है, और केवलज्ञान का स्वीकार करने का अनन्त पुरुषार्थ तुझमें प्रगट नहीं हुआ। केवलज्ञान का स्वीकार करने में अनन्त पुरुषार्थ का अस्तित्व आ जाता है, तथापि यदि उसे स्वीकार नहीं करता तो कहना होगा कि तू मात्र बातें ही करता है किन्तु तुझे सर्वज्ञ का निर्णय नहीं हुआ। यदि सर्वज्ञ का निर्णय हो तो पुरुषार्थ की और भव की शंका न रहे। यथार्थ निर्णय हो जाये और पुरुषार्थ न आये यह हो ही नहीं सकता।

अनन्त पदार्थों को जानने वाले, अनन्त पदार्थों में परिपूर्ण और भव रहित केवलज्ञान का जिस ज्ञान ने निर्णय किया उस ज्ञान ने अपने पुरुषार्थ के द्वारा निर्णय किया है या बिना ही पुरुषार्थ के? जिसने भव रहित केवलज्ञान को प्रतीति में लिया है उसने राग में लीन होकर प्रतीति नहीं की किन्तु राग से पृथक करके अपने ज्ञान स्वभाव में स्थिर होकर भव रहित केवलज्ञान की प्रतीति की है जिस ज्ञान ने ज्ञान में स्थिर होकर भव रहित केवलज्ञान की प्रतीति की है वह ज्ञान स्वयं भव रहित है और इसलिये उस ज्ञान में भव की शंका नहीं है। पहले केवलज्ञान की प्रतीति नहीं थी तब

वह अनन्त भव की शंका में झूलता रहता था और अब प्रतीति होने पर अनन्त भव की शंका दूर हो गई है तथा एकाध भव में मोक्ष के लिये ज्ञान निःशंक हो गया है। उस ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ निहित है। इस प्रकार 'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा है वैसा ही होता है,' ऐसी यथार्थ श्रद्धा में अपनी भव रहितता का निर्णय समाविष्ट हो जाता है, अर्थात् उसमें मोक्ष का पुरुषार्थ आ जाता है। यथार्थ निर्णय के बल से मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

सभी द्रव्यों की तरह अपने द्रव्य की अवस्था भी क्रमबद्ध ही है। जैसे अन्य द्रव्यों की क्रमबद्ध पर्याय इस जीव से नहीं होती वैसे ही इस जीव की क्रमबद्ध पर्याय अन्य द्रव्यों से नहीं होती। अपनी क्रमबद्ध पर्याय के स्वभाव की प्रतीति करने पर अपने द्रव्य स्वभाव में ही देखा जाता है कि, अहो! मेरी पर्यायें तो मेरे द्रव्य में से ही आती हैं, द्रव्य में रागद्वेष नहीं है, कोई पर द्रव्य मुझे रागद्वेष नहीं कराता। पर्याय में जो अल्प रागद्वेष है वह मेरी निबलाई का कारण है, वह निबलाई भी मेरे द्रव्य में नहीं है। ऐसे होने से उस जीव को पर में न देखकर अपने स्वभाव में ही देखना रह जाता है, अर्थात् द्रव्यदृष्टि में स्थिर होना रह जाता है। स्वभाव के बल से अल्प काल में राग को दूर करके वह केवलज्ञान को अवश्य प्रगट करेगा। बस, इसी का नाम क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा है, इस जीव ने ही सर्वज्ञ को यथार्थतया जाना है, और यही जीव स्वभावदृष्टि से साधक हुआ है, उसका फल सर्वज्ञ दशा है।

द्रव्य में समय २ पर जो विशेष अवस्था होती है वह विशेष सामान्य में से ही आती है, सामान्य में से विशेष प्रगट होता है। इसमें केवलज्ञान भरा हुआ है। (जैन के अतिरिक्त) सामान्य विशेष की यह बात जैन को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं है और सम्यक्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य लोग उसे यथार्थतया समझ नहीं सकते सामान्य में से विशेष होता है इतना सिद्धांत निश्चित करने पर वह परिणमन निज की ओर ढल जाता है। पर

मे मेरी पर्याय नहीं होती, निमित्त मे भी नहीं होती, विकल्प से भी नहीं होती और पर्याय में मे भी नहीं होती। इस प्रकार सब मे लक्ष हटाकर जो जीव मात्र द्रव्य की ओर झुका है उस जीव को ऐसी प्रतीति हो गई है कि सामान्य में मे ही विशेष होता है। अज्ञानी को ऐसी स्वाधीनता की प्रतीति नहीं होती।

भगवान ने जैसा देखा है वैसा ही होता है यह निश्चय करने वाले का वीर्य पर मे हटकर निज मे स्तम्भित हो गया है। ज्ञान ने निज में स्थिर होकर सर्वज्ञ की ज्ञानशक्ति का और समस्त द्रव्यो का निर्णय किया है। वह निर्णयरूप पर्याय न तो किसी पर में से आई है और न विकल्प में से भी आई है। किन्तु वह निर्णय की शक्ति द्रव्य मे मे प्रगट हुई है, अर्थात् निर्णय करने वाले ने द्रव्य को प्रतीति में लेकर निर्णय किया है। ऐसा निर्णय करने वाला जीव ही सर्वज्ञ का सच्चा भक्त है। उसका झुकाव अपने सर्वज्ञ स्वभाव की ओर हुआ है अत: वह कहीं भी न रुक कर अल्प काल मे ही सपूर्ण सर्वज्ञ हो जायगा इससे विरुद्ध अर्थात् कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कुछ कर सकता है, ऐसा जो मानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को, सर्वज्ञ के ज्ञान को, न्याय को तथा द्रव्य पर्याय को नहीं मानता।

१—अपना आत्मा पर से भिन्न है तथापि वह पर का कुछ करता है इस प्रकार मानना सो आत्मा को पर रूप मानना है अथवा आत्मा को नहीं मानना ही है। २—वस्तु की अवस्था सर्वज्ञदेव के देखे हुये अनुसार होती है उसकी जगह यह मानना कि मै उसे बदल सकता हूँ, सर्वज्ञ के ज्ञान को यथार्थ न मानने के समान है। ३—वस्तु की ही क्रमबद्ध अवस्था होती है, वहा निमित्त करता है अथवा निमित्त कोई परिवर्तन कर डालता है यह बात कहा रही? निमित्त पर का कुछ भी नहीं करता तथापि जो यह मानता है कि मेरे निमित्त से पर मे कोई परिवर्तन होता है वह सचे न्याय को नहीं मानता। ४—द्रव्य की पर्याय द्रव्य मे से ही आती है, उसकी जगह जो यह मानता है कि पर में से द्रव्य की पर्याय आती

है (अर्थात् जो यह मानता है कि मैं पर की पर्याय का कर्ता हूं) वह द्रव्य–पर्याय के स्वरूप को ही नहीं मानता । इस प्रकार एक विपरीत मान्यता मे अनन्त असत् का सेवन आ जाता है ।

वस्तु में से क्रमबद्ध पर्याय आती है, उसमें दूसरा कुछ नही करता, तथापि उस समय निमित्त अवश्य उपस्थित होता है, किन्तु निमित्त के द्वारा कोई भी कार्य नहीं होता । निमित्त सहायता करता हो सो बात नहीं है, और न ऐसा ही होता है कि निमित्त की उपस्थिति न हो । जैसे ज्ञान समस्त वस्तुओं को मात्र जानता है किन्तु किसी का कुछ करता नहीं है, इसी प्रकार निमित्त मात्र उपस्थित होता है, वह उपादान के लिए कोई असर, सहायता अथवा प्रेरणा नही करता और प्रभाव भी नही डालता ।

जिस समय निज तत्त्व के पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा की सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट होती है उस समय सच्चे देव, गुरु शास्त्र निमित्तरूप अवश्य होते हैं ।

प्रश्न—जीव की सम्यग्दर्शन के प्रगट होने की तैयारी हो और सच्चे देव, गुरु, शास्त्र न मिलें तो क्या सम्यग्दर्शन नहीं होता ?

उत्तर—यह हो ही नही सकता कि जीव की तैयारी हो और सच्चे देव, गुरु शास्त्र न हों । जब उपादान कारण तैयार होता है तब निमित्त कारण स्वयमेव आ जाता है, किन्तु कोई किसी का कर्ता नही होता । उपादान के कारण न तो निमित्त आता है और न निमित्त के कारण उपादान का कार्य होता है । दोनो स्वतन्त्ररूप से अपने अपने कार्य के कर्ता है ।

अहो ! वस्तु कितनी स्वतन्त्र है ! समस्त वस्तुओं मे क्रम–वर्तित्व चल ही रहा है, एक के बाद दूसरी पर्याय कहो या क्रमबद्ध पर्याय कहो, जो पर्याय होनी है वह होती ही रहती है । ज्ञानी जीव ज्ञाता के रूप में जानता रहता है और अज्ञानी जीव कर्तृत्व का मिथ्याभिमान करता है । जो पर का अभिमान करता है उसकी पर्याय क्रमबद्ध हीन परिणमित होती है, और जो ज्ञाता रहता है उसकी ज्ञानपर्याय क्रमशः विकसित होकर केवलज्ञान को प्राप्त हो जाती है ।

वस्तु की अनादि अनन्त समय की पर्यायों में से एक भी पर्याय का क्रम नहीं बदलता। अनादि अनन्त काल का जितना समय है उतनी ही प्रत्येक वस्तु की पर्यायें हैं। पहले समय की पहली पर्याय दूसरे समय की दूसरी पर्याय और तीसरे समय की तीसरी पर्याय के क्रम से जितने समय है उतनी ही पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं। जिसने ऐसा स्वीकार किया उसकी दृष्टि एक २ पर्याय पर से हटकर अभेद द्रव्य पर हो गई और वह पर से उदास हो गया। यदि कोई यह कहे कि मैं पर की पर्याय करूं तो इसका मतलब यह हुआ कि वह वस्तु की अनादि अनन्त काल की पर्यायों में परिवर्तन करना मानता है, अर्थात वह वस्तुस्वरूप को विपरीतरूप में मानता है, और इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है।

वस्तु और वस्तु के गुण अनादि अनन्त है। अनादि अनन्त काल के जितने समय है उतनी ही उस उस समय की पर्यायें वस्तु में से क्रमबद्ध प्रगट होती है। जिस समय की जो पर्याय है उस समय वही पर्याय प्रगट होती है, उल्टी सीधी नही होती तथा आगे पीछे भी नही होती। पर्याय के क्रम में परिवर्तन करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है। इस क्रमबद्ध पर्याय के सिद्धान्त में केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। यह तो दृष्टि के चिरस्थाई व्यजन हैं, उन्हें पचाने के लिए श्रद्धा–ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ चाहिये। जब अनादि अनन्त अखण्ड द्रव्य को प्रतीति मे लेते हैं तब क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा होती है, क्योंकि क्रमबद्ध पर्याय का मूल तो वही है। जो क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा करता है वह अनादि अनन्त पर्यायों का ज्ञायक और चैतन्य के केवलज्ञान की प्रतीति वाला हो जाता है। मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है इस प्रकार द्रव्य की ओर झुकने पर साधक पर्याय में अपूर्णता रहने पर भी उसे अब द्रव्य की ओर ही देखना रहा, और उसी द्रव्य के बल पर पूर्णता हो जायेगी।

वस्तु का सत्यस्वरूप तो ऐसा ही है, इसे समझे बिना छुटकारा नहीं है, वस्तु का स्वाधीन परिपूर्ण स्वरूप ध्यान मे लिए बिना पर्याय में शान्ति

कहाँ से आयेगी ? यदि सुख-दशा चाहिये हो तो वह वस्तुस्वरूप जानना पड़ेगा जिसमें से सुख-दशा प्रगट हो सके।

अहो ! मेरी पर्याय भी क्रमबद्ध ही होती है, इस प्रकार जिसने निश्चय किया उसे अपने में समभाव—ज्ञाताभाव हो जाता है, उसे पर्याय को बदलने की आकुलता नहीं रहती। किन्तु जो जो पर्यायें होती हैं उनका ज्ञाता के रूप में जानने वाला होता है। जो ज्ञाता के रूप में जानने वाला होता है उसे केवलज्ञान होने में विलम्ब कैसा ? जिसे स्वभाव में समभावी ज्ञान नहीं है। अर्थात् जिसे अपने द्रव्य की क्रमबद्ध दशा की प्रतीति नहीं है उस जीव की रुचि पर में जाती है और उसके विषम भाव से क्रमबद्ध रूप में विकारी पर्याय होती है। ज्ञातृत्व का विरोध करके जो पर्याय होती है वह विषम भाव में है। (विकारी है) और निज में दृष्टि करके ज्ञातृत्व के रूप में रहने पर जो पर्याय होती है वह समभाव में क्रमबद्ध विशेष शुद्ध होती जाती है।

इसमें सब कुछ अपनी पर्याय में ही समाविष्ट हो जाता है। यदि अपनी क्रमबद्ध पर्याय को स्वदृष्टि से करे तो शुद्ध हो और यदि पर-दृष्टि से करे तो अशुद्ध हो। पर के साथ संबंध न रहने पर भी दृष्टि किस ओर जाती है इस पर क्रमबद्ध पर्याय का आधार है। कोई जीव शुभभाव करने से परवस्तु (देव, शास्त्र, गुरु अथवा मंदिर इत्यादि) को प्राप्त नहीं कर सकता, और अशुभ भाव करने से कोई रुपया पैसा इत्यादि परवस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता। जो परवस्तु जिस काल में और जिस क्षेत्र में आनी होती है, वही वस्तु उस काल और उस क्षेत्र में स्वयं आ जाती है। वह आत्मभाव के कारण नहीं आती। वस्तु की समस्त पर्यायें अपने क्रमबद्ध नियमानुसार ही होती हैं उनमें कोई अन्तर नहीं आता। इस समझ में वस्तु की प्रतीति और केवलज्ञान स्वभाव का अनन्त वीर्य प्रगट होता है। इसे मानने पर अनन्त जीव परद्रव्यों के कर्तृत्व को छेदकर मात्र ज्ञाता हो

जाते है। इसमें सम्यग्दर्शन का ऐसा अपूर्व पुरुषार्थ भरा हुआ है कि जैसा अनन्त काल में कभी भी नहीं किया था।

जैसे आत्मा में सभी पर्यायें क्रमबद्ध होती है उसी प्रकार जड में भी जड़ की सभी अवस्थायें क्रमबद्ध होती है। कर्म की जो २ अवस्था होती है उसे आत्मा नहीं करता किन्तु वह परमाणु की क्रमबद्ध पर्याय है। कर्म के परमाणुओं में उदय, उदीरणा इत्यादि जो दस अवस्थायें (करण) है वे भी परमाणु की क्रमबद्ध दशा है। आत्मा के शुभ परिणाम के कारण कर्म के परमाणुओं की दशा बदल नही गई, किन्तु उन परमाणुओं मे ही उस समय वह दशा होने की योग्यता थी, इसलिये वह दशा हुई है। जीव के पुरुषार्थ के कारण कर्म की क्रमबद्ध अवस्था में भग नहीं पड जाता। जीव अपनी दशा में पुरुषार्थ करता है और उस समय कर्म के परमाणुओं की क्रमबद्ध दशा उपशम, उदीरणादिरूप स्वय होती है, परमाणु में उसकी अवस्था उसकी योग्यता से, उसके कारण से होती है, किन्तु आत्मा उसका कुछ नही करता।

प्रश्न—यदि कर्म उस परमाणु की क्रमबद्ध पर्याय ही है तो फिर जैनो मे तो कर्म सिद्धान्त के विपुल शास्त्र भरे पडे है, उनके सम्बन्ध मे क्या समझा जाय?

उत्तर—हे भाई! यह सभी शास्त्र आत्मा का ही बताने वाले है। कर्म का जितना वर्णन है उसका आत्मा के परिणाम के साथ मात्र निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध है। आत्मा के परिणाम किस किस प्रकार के होते है यह समझाने के लिये उपचार से कर्म में भेद करके समझाया है। निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराने के लिये कर्म का वर्णन किया है, किन्तु जड कर्म के साथ आत्मा का कर्ता कर्म सम्बन्ध किंचित मात्र भी नही है।

प्रश्न—बंध, उदय, उदीरणा, उपशम, अपकर्षण, उत्कर्षण सक्रमण, सत्ता, निद्धत्त और निकाचित, ऐसे दस प्रकार के करण (कर्म की अवस्था के प्रकार) क्यो कहे गये है?

उत्तर—इसमे भी वास्तव में तो चैतन्य की ही पहचान कराई गई है। कर्म के जो दस प्रकार बताये है वे आत्मा के परिणामो के प्रकार बताने के लिये ही है। आत्मा का पुरुषार्थ वैसे दस प्रकार से हो सकता है, यह बताने के लिये कर्म के भेद करके समझाया है। आत्मा के पुरुषार्थ के समय प्रस्तुत परमाणु उसकी योग्यता के अनुसार स्वयं परिणमन करता है। इसमें दोनो के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराया है, परन्तु यह बात नही है कि कर्म आत्मा का कुछ करते हैं।

एक कर्म परमाणु भी द्रव्य है उसमें जो अनादि अनन्त पर्याय होती है वही समय समय पर क्रमबद्ध होती है।

प्रश्न —आपने तो यह कहा है कि कर्म की उदीरणा होती है?

उत्तरः—उदीरणा का अर्थ यह नही है कि बाद मे होने वाली अवस्था को उदीरणा करके जल्दी लाया गया हो, कर्म की क्रमबद्ध अवस्था ही उस तरह की होनी है। जीव ने अपने में पुरुषार्थ किया है यह बताने के लिये उपचार मे ऐसा कहा है कि कर्म मे उदीरणा हुई है। वास्तव में कर्म की अवस्था का क्रम बदल नहीं गया, परन्तु जीव ने अपनी पर्याय मे उस प्रकार का पुरुषार्थ किया है—उसका ज्ञान कराने के लिये ही उदीरणा कही जाती है।

जहां यह कहा जाता है कि जीव अधिक पुरुषार्थ करे तो अधिक कर्म खिर जाते है वहा भी वास्तव में जीव ने कर्मो को खिराने का पुरुषार्थ नहीं किया, किन्तु अपने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया है। जीव के विशेष पुरुषार्थ का ज्ञान कराने के लिये उपचार मे ऐसा कहा जाता है कि बहुत समय के कर्म परमाणुओ को अल्पकाल मे ही नष्ट कर दिया है। इस आरोपित कथन में यथार्थ वस्तुस्वरूप तो यह है कि जीव ने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया और उस समय जिन कर्मो की अवस्था स्वयं खिरनेरूप थी वे कर्म खिर गये। परमाणु की अवस्था के क्रम में भग

नहीं पड़ता। बहुत काल के कर्म क्षणभर में टाल दिये इसका अर्थ इतना ही समझना चाहिये कि जीव ने बहुत सा पुरुषार्थ अपनी पर्याय में किया है।

छहों द्रव्य परिणमनस्वभाव हैं और वे अपने आप क्रमबद्ध पर्याय में परिणमित होते हैं। छहों द्रव्य पर की सहायता के बिना स्वयं परिणमित होते हैं यह श्रद्धा करने में ही अनन्त पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ के बिना जीव की एक भी पर्याय नहीं होती। मात्र पुरुषार्थ की उन्मुखता अपनी ओर करने की जगह जीव पर की ओर करता है, यही अज्ञान है। यदि वह स्वभाव की रुचि करे, तो स्वभाव की ओर ढले, अर्थात् पर्याय क्रमशः शुद्ध हो जाय।

इस बात की समझ में आत्मा के मोक्ष का उपाय निहित है इसलिए इस बात को खूब विश्लेषण करके समझना चाहिये, उसे जरा भी टकना नहीं चाहिये। उसे निर्णय पूर्वक स्पष्ट करके जानना चाहिये। परम सत को ढकना नहीं चाहिये, किन्तु ऊहापोह करके बराबर विश्लेषण पूर्वक निश्चय करना चाहिये। सत्य में किसी को लज्जा नहीं होती, यह तो वस्तुस्वरूप है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अपने सम्यग्ज्ञान में यह जानता है कि सर्वज्ञ भगवान ने अपने ज्ञान में जो जाना है उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु क्रमबद्ध परिणमित होती है। मेरी केवलज्ञान पर्याय भी क्रमबद्ध रूप से मेरे स्वद्रव्य में से ही प्रगट होगी। ऐसी सम्यक् भावना से उसका ज्ञान बढ़कर स्वभाव में एकाग्र होता है और ज्ञाता शक्ति प्रति पर्याय में निर्मल होती जाती है तथा विकारी पर्याय क्रमशः दूर होती जाती है। कौन कहता है कि इसमें पुरुषार्थ नहीं है? निशंक ऐसे स्वभाव में है वह सम्यग्दृष्टि है और इस स्वभाव में जो तनिक भी सन्देह का वेदन करता है वह मिथ्यादृष्टि है उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की और अपने ज्ञाता स्वभाव की श्रद्धा नहीं है।

अहो! इस सम्यग्दृष्टि जीव की भावना तो देखो! वह स्वभाव से ही प्रारम्भ करता है और स्वभाव में ही लाकर पूर्ण करता है। उसने जहां से प्रारम्भ किया था वहीं का वहीं ला रखा है, आत्मा में स्वाश्रय से साधक दशा प्रगट की है और पूर्णता भी स्वाश्रय से आत्मा में ही होती है।

केवलज्ञान सपूर्णतया निज में ही समाविष्ट हो जाता है। साधक धर्मात्मा अपने में ही समाविष्ट होना चाहता है। उसने बाहर से न तो कहीं से प्रारम्भ किया है और न बाह्य में कहीं रुकने वाला है। आत्मा का मार्ग आत्मा में से निकल कर आत्मा में ही समाविष्ट हो जाता है।

यहा मात्र जीव की ही बात नही है, किन्तु सभी पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। यहा मुख्यतया जीव की बात समझाई है। आत्मा की अवस्था आत्मा में ही क्रमबद्ध प्रगट होती है, यह निश्चय करने में अनन्त वीर्य है। यह निश्चय करने पर पहले अनन्त पदार्थों का अच्छा बुरा मान कर जो रागद्वेष होता था वह सब दूर हो गया, पर निमित्त का स्वामित्व मानकर जो वीर्य पर में रुक जाता था वह अब अपने आत्मस्वभाव को देखने में लग गया है, राग निमित्त इत्यादि के ओर की दृष्टि गई और स्वभाव में दृष्टि हो गई। स्वभाव दृष्टि में अपनी पर्याय की स्वाधीनता की कैसी प्रतीति होती है तत्सम्बन्धी यह बात है। स्वभाव–दृष्टि को समझे बिना व्रत, तप, भक्ति, दान और पठन, पाठन आदि सब बिना इकाई के शून्य के समान व्यर्थ है। मिथ्यादृष्टि जीव के यह कुछ सच्चे नहीं होते।

हे जीव! तेरी वस्तु में भगवान जितनी ही परिपूर्ण शक्ति है, भगवत्ता वस्तु में ही प्रगट होती है। यदि ऐसे अवसर पर यथार्थ वस्तु को दृष्टि में न ले तो वस्तु के स्वरूप को जाने बिना जन्म मरण का अन्त नहीं हो सकता। वस्तु के जानने पर अनन्त ससार दूर हो जाता है। वस्तु में ससार नहीं है, वस्तु की प्रतीति होने पर मोक्ष पर्याय की तैयारी की प्रतिध्वनि होने लगती है। भगवन्! यह तेरे स्वभाव की बात है, एकबार हाँ तो कह! तेरे स्वभाव की स्वीकृति में से स्वभाव दशा की अस्ति आयेगी; स्वभाव–सामर्थ्य से इन्कार मत कर! सब प्रकार से अवसर आ चुका है, अपने द्रव्य में दृष्टि करके देख, द्रव्य मे से सादि–अनन्त मोक्ष दशा प्रगट होती है, उस द्रव्य की प्रतीति के बल से मोक्ष दशा प्रगट हो जाती है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहों द्रव्यों में क्रमबद्ध पर्याय है। यदि जीव अपनी क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा करे तो उसकी क्रमबद्ध मोक्ष पर्याय हुये बिना न रहे, क्योंकि क्रमबद्ध की श्रद्धा का भार निज में होता है। जिस वस्तु में से अपनी अवस्था आती है उस वस्तु पर दृष्टि रखने से मोक्ष होता है। पर द्रव्य मेरी अवस्था को कर देगा ऐसी दृष्टि के टूट जाने से और निज द्रव्य में दृष्टि रखने से राग की उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् वस्तु की क्रमबद्ध अवस्था होती है, ऐसी दृष्टि होने पर स्वयं ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है और ज्ञाता-दृष्टा के बल से अस्थिरता को तोड़कर संपूर्ण स्थिर होकर अल्पकाल में ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इसमें अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है।

पुरुषार्थ के द्वारा स्वरूप की दृष्टि करने से और उस दृष्टि के बल से स्वरूप में रमणता करने से चैतन्य में शुद्ध क्रमबद्ध पर्याय होती है। चैतन्य की शुद्ध क्रमबद्ध पर्याय प्रयत्न के बिना नहीं होती। मोक्षमार्ग के प्रारम्भ से मोक्ष की पूर्णता तक सर्वत्र सम्यक् पुरुषार्थ और ज्ञान का ही कार्य है।

बाह्य वस्तु का जो होना हो सो हो, इस प्रकार क्रमबद्धता का निश्चय करना वास्तव में तब कहलाता है जब बाह्य वस्तु से उदास होकर सबका ज्ञाता मात्र रह जाये तभी उसके क्रमबद्ध का सच्चा निर्णय होता है। जो जीव अपने को पर का कर्ता मानता है और यह मानता है कि पर से अपने को सुख दुःख होता है उसे क्रमबद्ध पर्याय की किंचित् मात्र भी प्रतीति नहीं है।

मैं द्रव्य हूँ और मेरे अनन्त गुण है, वे गुण पलटकर समय २ पर एक के बाद एक अवस्था होती है, वह उल्टी सीधी नहीं होती और न एक ही साथ दो अवस्थायें एकत्रित होती हैं कोई भी समय अवस्था के बिना खाली नहीं जाता। केवलज्ञान और मोक्ष दशा भी मेरे गुण में से ही क्रमबद्ध प्रगट होती है। इस प्रकार क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा होने पर अपनी पर्याय प्रगट होने के लिये किसी पर वस्तु पर लक्ष नहीं रहेगा, और इस-

लिये किसी पर वस्तु पर रागद्वेष करने का कारण नहीं रहेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त परपदार्थों का लक्ष छोड़कर आत्मनिरीक्षण में ही लग जाता है। ऐसा होने पर अपने में भी ऐसा आकुलता का विकल्प नहीं रहेगा कि "मेरी पूर्ण शुद्ध पर्याय कब प्रगट होगी"। क्योंकि तीन काल की क्रमबद्ध पर्याय से भरा हुआ द्रव्य उसकी प्रतीति में आगया है। तात्पर्य यह है कि जो क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा करता है वह जीव अवश्य ही आसन्न मुक्ति-गामी होता है।

क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा होने पर द्रव्य की अवस्था चाहे जिससे हो किन्तु उसमें यह विचार (राग-द्वेष) कदापि नहीं होता कि—"यह ऐसा क्यों हुआ? यदि ऐसा हुआ होता तो मुझे ठीक होता।" क्रमबद्ध पर्याय का निश्चय करने वाले के यह श्रद्धा होती है कि इस द्रव्य की इस समय ऐसी ही क्रमबद्ध अवस्था होनी थी, वैसा ही हुआ है, तब फिर वह उसमें राग या द्वेष क्यों करेगा? जिस समय जिस वस्तु की जो अवस्था होती जाती है उसका वह मात्र ज्ञान ही करता है, बस, वह ज्ञाता हो गया, ज्ञाता-रूप में रहकर वह अल्पकाल में ही केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त करेगा। यह क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा का फल है।

क्रमबद्ध अवस्था का निर्णय उसी ज्ञायकभाव का अर्थात् वीतरागस्वभाव का निर्णय है, और वह निर्णय अनन्त पुरुषार्थ से हो सकता है। पुरुषार्थ को स्वीकार किये बिना मोक्ष की ओर की क्रमबद्ध पर्याय नहीं होती। जिसके ज्ञानमें पुरुषार्थ का स्वीकार नहीं होता वह अपने पुरुषार्थ को प्रारम्भ नहीं करता इसलिये पुरुषार्थ के बिना उसे सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान नहीं होता। पुरुषार्थ को स्वीकार न करने वाले की क्रमबद्ध पर्याय निर्मल नहीं होती, किन्तु विकारी होगी। अर्थात् पुरुषार्थ को स्वीकार न करने वाला अनन्त संसारी है और पुरुषार्थ को स्वीकार करने वाला निकट मोक्षगामी है। चाहे क्रमबद्ध अवस्था का निर्णय कहो या पुरुषार्थवाद कहो— वह यही है।

प्रश्न—यदि क्रमबद्ध पर्याय जब जो होनी हो वही हो, तो फिर विकारी भाव भी जब होने हों तभी तो होंगे?

उत्तर—अरे भाई ! तेरा प्रश्न विपरीतता को लेकर उपस्थित हुआ है। जिसने अपने ज्ञान में यह प्रतीति कर ली है कि ' विकारी पर्याय जब होनी थी, तब हुई ' तो उसकी रुचि कहाँ जाकर अटकी है ? विकार को जानने वाले को ज्ञान की रुचि है या विकार की ? विकार को यथार्थतया जानने का काम करने वाला वीर्य तो अपने ज्ञान का है और उस ज्ञान का वीर्य विकार से हटकर स्वभाव के ज्ञान में अटक रहा है स्वभाव के ज्ञान मे अटका हुआ वीर्य विकार की या पर की रुचि मे कदापि नहीं अटकता किन्तु स्वभाव के बल से विकार का अल्पकाल में क्षय होता है। जिसे विकार की रुचि है उसकी दृष्टि का वजन (वीर्य का भार) विकार की ओर जाता है। "जो होनी होनी है वही पर्याय क्रमबद्ध होती है" इस प्रकार जिसका वीर्य स्वीकार करता है ? यह स्वीकार करने वाले के वीर्य मे पर मे सुखबुद्धि नहीं होती किन्तु स्वभाव में ही संतोष होता है।

जैसे किसी बड़े आदमी के यहा शादी का अवसर हो और वह सब को आचूल निमंत्रण देकर विविध प्रकार के मिष्ठान्न जिमाये,—इसी प्रकार यहा सर्वज्ञदेव के घर में आचूल निमंत्रण है, ' मुक्ति के मंडप में सबको आमंत्रण है, समस्त विश्वको आमंत्रण है। मुक्तिमंडप के हर्ष–भोज में सर्वज्ञ भगवान के द्वारा दिव्य ध्वनि में परोसे गये न्यायो में से उच्च प्रकार के न्याय परोसे जाते है, जिन्हे पचाने से आत्मा पुष्ट होता है।

यदि तुझे सर्वज्ञ–भगवान होना हो तो तू भी इस बात को मान,। जो इस बात को स्वीकार करता है उसकी मुक्ति निश्चित है। लो ! यह है मुक्ति मंडप और इसका हर्ष–भोज इसे स्वीकार करो ! अब गाथा ३२१–३२२ में जो वस्तुस्वरूप बताया है उसकी विशेष दृढ़ता के लिए ३२३ वी गाथा कहते हैं। जो जीव पहले गाथा ३२१–३२२ में कहे गये वस्तुस्वरूप को जानता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो उसमें संशय करता है वह मिथ्यादृष्टि है—

एवं जो णिच्चयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो सकदि सो हु कुद्दिट्ठी ॥ ३२३ ॥

अर्थः—इस प्रकार निश्चय से सर्वद्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश, काल) तथा उन द्रव्यो की समस्त पर्यायों को जो सर्वज्ञ के आगमानुसार जानता है–श्रद्धा करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है, और जो ऐसी श्रद्धा नहीं करता–शंका संदेह करता है वह सर्वज्ञ के आगम के प्रतिकूल है– प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है ।

सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान के द्वारा जानकर जिन द्रव्यो और उनकी अनादि अनन्त काल की समस्त पर्यायो को आगम मे कहा है वे सब जिस के ज्ञान में और प्रतीतिमें जम गये है वे " सद्दिट्ठी सुद्धो " अर्थात् शुद्ध सम्यग्दृष्टि है । मूल पाठ में ' सो सद्दृष्टि शुद्ध ' यह कह कर भार दिया है । पहली बात अस्ति की अपेक्षा से कही और फिर नास्ति की अपेक्षा से कहते हैं कि सकादि सो हु कुदिट्ठी ' अर्थात जो उस में शंका करता है वह प्रगट रूप में मिथ्यादृष्टि है– सर्वज्ञ का शत्रु है ।

स्वामी कार्तिकेय आचार्य ने इन ३२१–३२२–३२३ वी गाथाओं में गूढ रहस्य संकलित करके रख दिया है । सम्यग्दृष्टि जीव बराबर जानता है कि त्रैकालिक समस्त पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध है । सर्वज्ञ देव और सम्यग्दृष्टि मे इतना अन्तर है कि सर्वज्ञ देव समस्त द्रव्यो की क्रमबद्ध पर्यायो को प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते हैं और सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा समस्त द्रव्यो की क्रमबद्ध पर्यायो को आगम प्रमाण से प्रतीति मे लेता है अर्थात् परोक्ष ज्ञान से निश्चय करता है । सर्वज्ञ के वर्तमान रागद्वेष सर्वथा दूर हो गये है । सम्यग्दृष्टि के अभिप्राय में भी राग–द्वेष सर्वथा दूर हो गये हैं । सर्वज्ञ भगवान केवलज्ञान से त्रिकाल को जानते है । सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि केवलज्ञान से नहीं जानते तथापि वे श्रुतज्ञान के द्वारा त्रिकाल के पदार्थों की प्रतीति करते हैं । उनका ज्ञान भी निःशंक है । पर्याय प्रत्येक वस्तु का धर्म है । वस्तु स्वतन्त्रतया अपनी पर्यायरूप में होती है । जिस समय जो पर्याय होती है उसको मात्र जानना ही ज्ञान का कर्तव्य है । जानने के बाद ' यह पर्याय यों कैसे हुई ? ' ऐसी शंका करने वाले को वस्तु के स्वतन्त्र ' पर्यायधर्म ' की

और ज्ञान के कार्य की खबर नहीं है। ज्ञान का कार्य मात्र जानना है, जानने में यह कैसे हुआ? इस प्रकार की शका को स्थान ही कहाँ है? 'ऐसा कैसे?' ऐसी शका करना ज्ञान का स्वरूप ही नही है, किन्तु 'जो पर्याय होती है वह वस्तु के धर्मानुसार ही होती है,' इसलिए जैसी होनी है उसी प्रकार उसे जानना ज्ञान का स्वभाव है। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके ज्ञानी सबको निश्चयरूप में जानता रहता है। ऐसे ज्ञान के बल से केवलज्ञान और अपनी पर्याय के बीच के अन्तर को तोडकर पूर्ण केवलज्ञान को अल्पकाल में ही प्रगट कर लेगा।

जो जीव वस्तु की क्रमबद्ध स्वतंत्र पर्याय को नहीं मानता और यह मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ—उसमें परिवर्तन कर सकता हूँ और पर मुझे रागद्वेष कराता है' उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की श्रद्धा नही है, तथा वह सर्वज्ञ के आगम से प्रतिकूल प्रगट मिथ्यादृष्टि है। जो यह मानता है कि जो सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रतिभासित हुआ है उसमें मैं परिवर्तन कर दूँ, वह सर्वज्ञ के ज्ञान को नहीं मानता। जो सर्वज्ञ के ज्ञान को और उनकी श्री-मुखवाणी के न्यायों को नहीं मानता वह प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञ-देव तीन काल और तीन लोक के समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जानते हैं, और सभी वस्तु की पर्यायें प्रगटरूप में उसी से स्वयं होती है तथापि जो उससे विरुद्ध मानता है (सर्वज्ञ के ज्ञान से और वस्तु के स्वरूप से विरुद्ध मानता है) वह सर्वज्ञ का और अपने आत्मा का विरोधी एव प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है।

यद्यपि पर्याय क्रमबद्ध होती है किन्तु वह बिना पुरुषार्थ के नहीं होती। जिस ओर का पुरुषार्थ करता है उस ओर की क्रमबद्ध पर्याय होती है। यदि कोई कहे कि इसमें तो नियत आगया, तो उसके उत्तर में कहते है कि हे भाई! त्रिकाल की नियत पर्याय का निर्णय करने वाला कौन है? जो त्रिकाल की पर्यायों को निश्चित करता है वह मानों द्रव्य को ही निश्चित करता है। जो पर के लक्ष से निज का नियत मानता है वह एकान्तवादी, बातूनी है और

अपने स्वभाव के लक्ष से स्वय स्वभाव में मिलकर– स्वभाव की एकता करके, राग को दूर करके ज्ञायक हो गया है, उसके अपने स्वभाव के पुरुषार्थ में नियत समाविष्ट हो जाता है। जहाँ स्वभाव का पुरुषार्थ है वहाँ नियम से मोक्ष है अर्थात् पुरुषार्थ में ही नियत आ जाता है। जहाँ पुरुषार्थ नहीं है वहाँ मोक्ष पर्याय का नियत भी नहीं है।

अहो! महा सन्त मुनीश्वरो ने जगल में रहकर आत्मस्वभाव का अमृत प्रवाहित किया है। आचार्यदेव धर्म के स्तभ हैं, आचार्यदेवों ने पवित्र धर्म को सहारा देकर उसे स्थिर रखा है। एक एक आचार्यदेव ने अद्भुत कार्य किया है। साधकदशामें स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए परीषहों को जीतकर परम सत्य को जीवित रखा है। आचार्य देव के कथन में केवलज्ञान की प्रतिध्वनि गर्जित हो चुकी है। ऐसे महान शास्त्रों की रचना करके आचार्यों ने अनेकानेक जीवो पर अपार उपकार किया है। उनकी रचना को देखो, पद पद पर कितना गम्भीर रहस्य भरा है। यह तो सत्य की घोषणा है। इस के रामकार अपूर्व वस्तु है, और इसे समझना मानो मुक्ति को वरण करने का श्रीफल है। जो इसे समझ लेता है उसका मोक्ष निश्चित है।

प्रश्न—जो होना होता है, सो होना है, ऐसा मानने में अनेकान्त स्वरूप कहाँ आया ?

उत्तर—जो होना होता है, वह वैसा होता है अर्थात् पर का पर से होता है और मेरा मुझ से होना है। यह जानकर पर से हटकर जो अपनी ओर उन्मुख हुआ, उसने स्वभाव के लक्ष से माना है उसकी मान्यता में अनेकान्त स्वरूप है और 'मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से क्रमबद्ध आती है, मेरी पर्याय पर मे से नहीं आती' इस प्रकार अनेकान्त है। तथा 'पर की पर्याय पर के द्रव्य में से क्रमबद्ध जो होनी होती है सो होनी है, मैं उसकी पर्याय को नहीं करता' इस प्रकार अनेकान्त है। 'जो होना होता है वही होता है' यह जानकर अपने द्रव्य की ओर उन्मुख होना चाहिए

परन्तु ' जो होना होता है सो होना है ' इस प्रकार जो मात्र पर से मानता है, किन्तु अपने द्रव्य की पर्याय कहाँ से आती है इसकी प्रतीति नहीं करता अर्थात् पर लक्ष को छोड़कर स्वलक्ष नहीं करता वह एकान्तवादी है।

प्रश्न—भगवान ने तो मोक्षमार्ग के पांच समवाय कहे है, और आप मात्र पुरुषार्थ पुरुषार्थ ही रटा करते है, तो फिर उसमें अन्य चार समवाय किस प्रकार आते है ?

उत्तर—जहाँ जीव सच्चा पुरुषार्थ करता है वहां स्वयं अन्य चारों समवाय अवश्य होते हैं। पांच समवायों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१—मैं पर का कुछ करने वाला नहीं हूं, मैं तो ज्ञायक हूं, मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है इस प्रकार स्वभावदृष्टि करके पर की दृष्टि को तोड़ना सो पुरुषार्थ है।

२—स्वभावदृष्टि का पुरुषार्थ करते हुए जो निर्मल दशा प्रगट होती है वह स्वभाव में थी सो वही प्रगट हुई, अर्थात् जो शुद्धता प्रगट होती है वह स्वभाव है।

३—स्वभावदृष्टि के पुरुषार्थ से स्वभाव में से जो क्रमबद्ध पर्याय उस समय प्रगट होनी थी वही शुद्ध पर्याय उस समय प्रगट हुई सो नियति है। स्वभाव की दृष्टि के बल से स्वभाव में जो पर्याय प्रगट होने की शक्ति थी वही पर्याय प्रगट हुई है। बस, स्वभाव में से जिस समय जो दशा प्रगट हुई वही पर्याय उसकी नियति है। पुरुषार्थ करने वाले जीव के स्वभाव में जो नियति है वही प्रगट होती है, बाहर से नहीं आती।

४—स्वदृष्टि के पुरुषार्थ के समय जो दशा प्रगट हुई वही उस वस्तु का स्वकाल है। पहले पर की ओर झुकता था, उसकी जगह स्वोन्मुख हुआ सो यही स्वकाल है।

५—जब स्वभावदृष्टि से यह चार समवाय प्रगट हुये तब निमित्तरूप कर्म उसकी अपनी योग्यता से स्वयं हट गये, यह कर्म है।

इस में पुरुषार्थ, स्वभाव, नियति और काल यह चार समवाय अस्तिरूप है अर्थात वे चारों उपादान की पर्याय से सम्बद्ध है और पाचवां समवाय नास्तिरूप है, वह निमित्त से सम्बद्ध है। यदि पाचवां समवाय आत्मा में लागू करना हो तो वह इस प्रकार है—परोन्मुखता से हटकर स्वभाव की ओर झुकने पर प्रथम के चारों का अस्तिरूप में, और कर्म का नास्तिरूप में इस प्रकार आत्मा में पाचों समवायों का परिणमन हो गया है अर्थात् निज के पुरुषार्थ से पाचों समवाय अपनी पर्याय में समाविष्ट हो जाते है। प्रथम चार अस्ति से और पाचवा नास्ति से, अपने में है।

जब जीव ने सम्यक् पुरुषार्थ नहीं किया तब विकारीभाव के लिये कर्म निमित्त कहलाया और जब सम्यक पुरुषार्थ किया तब कर्म का अभाव निमित्त कहलाया। जीव अपने में पुरुषार्थ के द्वारा चार समवायों को प्रगट करे और प्रस्तुत कर्म की दशा बदलनी न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। जीव निज तत्त्व करके चार समवाय रूप परिणमित होता है और कर्म की ओर लक्ष करके परिणमित नहीं होता (अर्थात उदय में युक्त नहीं होता) तब कर्म की अवस्था को निर्जरा कहा जाता है। जीव जब स्वसन्मुख परिणमित होता है तब भले ही कर्म उदय मे हो किन्तु जीव के उस समय के परिणमन मे कर्म के निमित्त की नास्ति है। स्वयं निज में एकमेक हुआ और कर्म की ओर नहीं गया सो यही कर्म की नास्ति अर्थात उदय का अभाव है।

आत्मा मे एक समय की स्वसन्मुखदशा में पाचों समवाय आ जाते है। जीव जब पुरुषार्थ करता है तब उसके पाचों ही समवाय एक ही समय में होते है। स्व की प्रतीति मे पर की प्रतीति आ ही जाती है। ऐसी क्रमबद्ध वस्तुस्वरूप की प्रतीति में केवलज्ञान का पुरुषार्थ आ गया है।

प्रश्न—जीव केवलज्ञान को प्रगट करने का पुरुषार्थ करे, किन्तु उस समय कर्म की क्रमबद्ध अवस्था अधिक समय तक रहनी हो तो जीव के केवलज्ञान कैसे प्रगट होगा !

उत्तर—तेरी शका अद्भुत है तुझे अपने पुरुषार्थ का ही विश्वास नहीं है, इसलिए तेरी दृष्टि कर्म की ओर प्रलंबित हुई है। जो ऐसी शका करता

है कि ' सूर्य का उदय होगा और फिर भी यदि अन्धकार नष्ट न हुआ तो ? ' वह मूर्ख है । इसी प्रकार ' मैं पुरुषार्थ करूं और कर्म की स्थिति अधिक समय तक रहनी हो तो ? जो ऐसी शंका करता है उसे पुरुषार्थ की प्रतीति नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है । कर्म की क्रमबद्ध पर्याय ऐसी ही है कि जब जीव पुरुषार्थ करता है तब वह स्वयं ही दूर हो जाती है। ' कर्म अधिक काल तक रहना हो तो ? ' यह दृष्टि तो पर की ओर प्रतिबिंबित हुई है, और ऐसी शंका करने वाले ने अपने पुरुषार्थ को पराधीन माना है । तुझे अपने आत्मा के पुरुषार्थ की प्रतीति है या नहीं ? मैं अपने स्वभाव के पुरुषार्थ से केवलज्ञान प्रगट करता हूँ और जब अपनी केवलज्ञान दशा प्रगट करता हूँ तब घातिया कर्म होते ही नहीं, ऐसा नियम है । जिसे उपादान की श्रद्धा हो उसे निमित्त की शंका नहीं होती और जो निमित्त की शंका में अटक गया है उसने उपादान का पुरुषार्थ ही नहीं किया । जो उपादान है सो निश्चय है, और निमित्त है सो व्यवहार है ।

निश्चय नय संपूर्ण द्रव्य को लक्ष में लेता है। संपूर्ण द्रव्य की श्रद्धा में केवलज्ञान से कम की स्वीकृति ही कहाँ है ? क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा में द्रव्य की श्रद्धा है, और द्रव्य की श्रद्धा में केवलज्ञान से हीन दशा की प्रतीति ही नहीं है । इसलिये क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा में केवलज्ञान ही है ।

केवलज्ञानी निश्चय से तो संपूर्ण आत्मज्ञ ही है किन्तु व्यवहार से सर्वज्ञ है। सम्पूर्ण आत्मज्ञ होने से सर्वज्ञ कहलाता है। आत्मज्ञता के बिना सर्वज्ञता हो ही नहीं सकती ।

सर्वज्ञ सभी वस्तु की पर्यायों के क्रम को जानता है, इसलिये जो निम्नदशा में भी यह प्रतीति में लाता है कि ' सभी वस्तुओं की क्रमबद्ध पर्याय है ' वह जीव सर्वज्ञता को स्वीकार करता है, और जो सर्वज्ञता को स्वीकार करता है वह आत्मज्ञ ही है, क्योंकि सर्वज्ञता कभी भी आत्मज्ञता के बिना नहीं होती । जो जीव वस्तु की सम्पूर्ण क्रमबद्ध पर्यायों को नहीं मानता

वह सर्वज्ञता को नहीं मानता, और जो सर्वज्ञता को नहीं मानता वह आत्मज्ञ नहीं हो सकता।

आत्मा की सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति में सभी वस्तुओं की तीनों काल की पर्यायें जैसी होनी होनी है वैसी ही ज्ञात होती है, और जैसी ज्ञात होती हैं उसी प्रकार होती है। जिसे ऐसी प्रतीति हो जाती है उसे क्रमबद्ध पर्याय की और सर्वज्ञ की शक्ति की प्रतीति हो जाती है और वह आत्मज्ञ हो जाता है आत्मज्ञ जीव सर्वज्ञ अवश्य होता है।

वस्तु के प्रत्येक गुण की पर्याय प्रवाहबद्ध चलती ही रहती है। एक ओर सर्वज्ञ का केवलज्ञान परिणमित हो रहा है, दूसरी ओर जगत् के सब द्रव्यों की पर्याय अपने २ भीतर क्रमबद्ध परिणमित हो रही है। अरे! इसमें एक दूसरे का क्या कर सकता है? समस्त द्रव्य अपने आप में ही परिणमित हो रहे हैं। बस! ऐसी प्रतीति करने पर ज्ञान अलग ही रह गया, सबमें से राग-द्वेष उड़ गया और मात्र ज्ञान रह गया यही केवलज्ञान है।

परमार्थ से निमित्त के बिना ही कार्य होता है। विकाररूप में या शुद्धरूप में जीव स्वयं ही निज पर्याय से परिणमित होता है और उस परिणमन में निमित्त की तो नास्ति है। कर्म और आत्मा का सम्मिलित परिणमन होकर विकार नहीं होता। एक वस्तु के परिणमन के समय परवस्तु की उपस्थिति हो तो इसमें क्या? परवस्तु का और निज वस्तु का परिणमन बिल्कुल भिन्न ही है, इसलिए जीव की पर्याय निमित्त के बिना अपने आप से ही होती है, निमित्त कहीं जीव की राग-द्वेषादि पर्याय में घुस नहीं जाता। इसलिए निमित्त के बिना ही राग-द्वेष होता है। निमित्त की उपस्थिति होती है सो तो ज्ञान करने के लिए है ज्ञान की सामर्थ्य होने से जीव निमित्त को जानता भी है परन्तु निमित्त के कारण उपादान में कुछ भी नहीं होता।

आत्मस्वरूप की यथार्थ समझ सुलभ है।

अपना आत्मस्वरूप समझना सुगम है, किन्तु अनादि से स्वरूप के अनभ्यास के कारण कठिन मालूम होता है। यदि कोई यथार्थ रुचि पूर्वक समझना चाहे तो वह सरल है।

चाहे जितना चतुर कारीगर हो तथापि वह दो घड़ी में मकान तैयार नहीं कर सकता, किंतु यदि आत्मस्वरूप की पहिचान करना चाहे तो वह दो घड़ी में भी हो सकती है। आठ वर्ष का बालक एक मन का बोझा नहीं उठा सकता, किन्तु यथार्थ समझ के द्वारा आत्मा की प्रतीति करके केवलज्ञान को प्राप्त कर सकता है। आत्मा परद्रव्य में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता, किन्तु स्व-द्रव्य में पुरुषार्थ के द्वारा समस्त अज्ञान का नाश करके, सम्यग्ज्ञान को प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। स्व में परिवर्तन करने के लिये आत्मा सम्पूर्ण स्वतंत्र है, किन्तु पर में कुछ भी करने के लिये आत्मा में किंचित् मात्र सामर्थ्य नहीं है। आत्मा में इतना अपार स्वाधीन पुरुषार्थ विद्यमान है कि यदि वह उल्टा चले तो दो घड़ी में सातवें नरक जा सकता है और यदि सीधा चले तो दो घड़ी में केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो सकता है।

परमागम श्री समयसारजी में कहा है कि—' यदि यह आत्मा अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को पुद्गलद्रव्य से भिन्न दो घड़ी के लिये अनुभव करे (उसमें लीन हो जाय) परिषहों के आने पर भी न डिगे तो घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त हो जाय। आत्मानुभव

की ऐसी महिमा है तो मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का होना सुलभ ही है. इसलिये श्री परम-गुरुओं ने यही उपदेश प्रधानता से दिया है।'

श्री समयसार प्रवचनो में आत्मा की पहिचान करने के लिये बारबार प्रेरणा की गई है कि—

(१) चैतन्य के विलासरूप आनद को किंचित् प्रथक् करके देख! उस आनद के भीतर देखने पर तू शरीरादि के मोह को तत्काल छोड़ सकेगा। 'झगिति' अर्थात् झट में छोड़ सकेगा। यह बात सरल है, क्यों कि यह तेरे स्वभाव की बात है।

(२) सातवें नरक की अनंत वेदना में पडे हुए जीवो ने भी आत्मानुभव प्राप्त किया है, तब यहाँ पर सातवें नरक के बराबर तो पीडा नहीं है। मनुष्य-भव प्राप्त करके रोना क्या रोया करता है? अब सत्समागम से आत्मा की पहिचान करके आत्मानुभव कर! इस प्रकार समयसार प्रवचनो में बारम्बार-हजारो बार आत्मानुभव करने की प्रेरणा की है। जैनशास्त्रों का ध्येयबिन्दु ही आत्मस्वरूप की पहिचान कराना है।

'अनुभव प्रकाश' ग्रंथ में आत्मानुभव की प्रेरणा करते हुये कहा है कि कोई यह जाने कि आज के समय में स्वरूप की प्राप्ति कठिन है, तो समझना चाहिये कि वह स्वरूप की चाह को मिटाने वाला बहिरात्मा है.. ..! जब वह निठल्ला होता है तब विकथा करने लगता है। उस समय यदि वह स्वरूप की प्रेरणा अनुभव करे तो उसे कौन रोक सकता है? यह कितने आश्चर्य की बात है कि वह पर परिणाम को तो सुगम और निज परिणाम को विषम बताता है। स्वयं देखता है, जानता है तथापि यह कहते हुये लज्जा नहीं आती कि देखा नहीं जाता, जाना नहीं जाता .. ..' जिसका जयगान भव्य जीव गाते हैं, जिसकी अपार महिमा को जानने से महा भव-भ्रमण दूर हो जाता है, ऐसा यह समयसार (आत्मस्वरूप) अविकार जान लेना चाहिये।

यह जीव अनादि काल से अज्ञान के कारण परद्रव्य को अपना करने के लिये प्रयत्न कर रहा है और शरीरादि को अपना बनाकर रखना चाहता है, किंतु परद्रव्य का परिणमन जीव के आधीन नहीं है, इसलिये अनादि से जीव के परिश्रम (अज्ञानभाव) के फल में एक परमाणु भी जीव का नहीं हुआ। अनादिकाल से देह–दृष्टि पूर्वक शरीर को अपना मान रखा है किन्तु अभी तक एक भी रजकण न तो जीव का हुआ है और न होने वाला है, दोनों द्रव्य त्रिकाल भिन्न है । जीव यदि अपने स्वरूप को यथार्थ समझना चाहे तो वह पुरुषार्थ के द्वारा अल्पकाल में समझ सकता है । जीव अपने स्वरूप को जब समझना चाहे तब समझ सकता है। स्वरूप के समझने में अनंतकाल नहीं लगता, इसलिये यथार्थ समझ सुलभ है ।

यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की रुचि के अभाव मे ही जीव अनादिकाल से अपने स्वरूप को नहीं समझ पाया इसलिये आत्मस्वरूप समझने की रुचि करो और ज्ञान प्राप्त करो ।

उपादान निमित्त की स्वतन्त्रता

१— उपादान निमित्त ।

उपादान किसे कहना चाहिये और निमित्त किसे कहना चाहिये ?

आत्मा की त्रिकाल शक्ति को उपादान कहते है । तथा पर्याय की वर्तमान शक्ति को भी उपादान कहते है । जिस अवस्था में कार्य होता है, उस समय की वह अवस्था स्वयं ही उपादान कारण है, और उस समय उसे अनुकूल परद्रव्य निमित्त है । निमित्त को लेकर उपादान मे कुछ नहीं होता । इन उपादान निमित्त सबन्धी विविध प्रकार की मिथ्या मान्यताओं को दूर करने के लिये अनेक दृष्टान्तों के द्वारा उपादान निमित्त का सिद्धान्त समझाया जाता है ।

२— गुरु के निमित्त से ज्ञान नहीं होता ।

आत्मा में जो ज्ञान होता है वह ज्ञान आत्मा की पर्याय की शक्ति से होता है या शास्त्र के निमित्त से होता है ?

आत्मा की पर्याय की योग्यता से ही ज्ञान होता है, निमित्त से ज्ञान नहीं होता । जिस समय आत्मा की पर्याय में पुरुषार्थ के द्वारा सम्यक्ज्ञान को प्रगट करने की योग्यता होती है और आत्मा सम्यक्ज्ञान प्रगट करता है उस समय गुरु को निमित्त कहा जाता है, किन्तु गुरु के निमित्त से वह ज्ञान नहीं हुआ है ।

जब जीव में प्रथम सम्यक्ज्ञान का पुरुषार्थ होता है, तब गुरु की वाणी का योग होता ही है, किन्तु जब तक उस वाणी पर जीव का लक्ष है तबतक राग है, और जब वाणी का लक्ष छोड़कर स्वभाव का निर्णय करता

है तब उस निर्णय में गुरु को निमित्त कहा जाता है। और जीव को जब गुरु के बहुमान का विकल्प उठता है तब वह यों भी कहता है कि मुझे गुरु से ज्ञान हुआ है।

३— यह कहना कि मुझे 'गुरु से ज्ञान हुआ है' सो कपट नहीं किन्तु व्यवहार है।

प्रश्न— ज्ञान तो निज से ही हुआ है गुरु से नहीं हुआ,—यह जानते हुए भी यों कहना कि गुरु से ज्ञान हुआ है सो क्या कपट नहीं कहलायेगा?

उत्तर:——व्यवहार में यों ही कहा जाता है। यह कपट नहीं किन्तु यथार्थ सिद्धान्त है। गुरु के बहुमान का शुभ विकल्प उत्पन्न हुआ है, इसलिये निमित्त में आरोप किया जाता है।

प्रश्नः—गुरु के बहुमान का विकल्प उठता है सो तो ठीक है, किन्तु यह क्यों कहा जाता है कि 'गुरु से ज्ञान हुआ है'?

उत्तरः——बहुमान का विकल्प उठा है इसलिये निमित्त में आरोप करके व्यवहार से वैसा कहा जाता है। आरोप की भाषा ऐसी ही होती है। किन्तु वास्तव में गुरु से ज्ञान नहीं हुआ है, अथवा ऐसा भी नहीं है कि यदि गुरु न होते तो ज्ञान नहीं होता। जब स्वयं पुरुषार्थ से ज्ञान करता है तब गुरु निमित्त के रूप में माना जाता है। यही सिद्धान्त है।

४— मिट्टी में घड़ारूप पर्याय होने की योग्यता सदा की नहीं है, किन्तु एक समय की ही है।

मिट्टी से घड़ा बनता है, सो वह उसकी वर्तमान पर्याय की उस समय की योग्यता से ही बना है, वह कुम्हार के कारण से नहीं बना। कोई यह कहे कि मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता तो सदा विद्यमान है, किन्तु जब कुम्हार आया तब घड़ा बना तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है। मिट्टी में घड़ारूप होने की योग्यता सदा नहीं है किन्तु वर्तमान एक ही समय की पर्याय की वह योग्यता है, और जिस समय पर्याय में योग्यता होती है उस

समय ही घडा होता है। अन्य पदार्थों से मिट्टी को अलग पहिचानने के लिये द्रव्यार्थिकनय से यह कहा जाता है कि 'मिट्टी में घडा होने की योग्यता है।' किन्तु वास्तव में तो जब घडा होता है तभी उसमें घडा होने की योग्यता है, उससे पूर्व उसमें घडा होने की योग्यता नहीं, किन्तु दूसरी पर्याय होने की योग्यता है।

५— गुरु के कारण श्रद्धा नहीं होती।

आत्मा पुरुषार्थ से सच्ची श्रद्धा करता है, यह उसकी पर्याय की वर्तमान योग्यता है, और गुरु अपने कारण से उपस्थित होता है जो कि निमित्त है। ऐसा नहीं है कि जीव ने श्रद्धा की इसलिये गुरु को आना पडा, और ऐसा भी नहीं है कि गुरु आये इसलिये उनके कारण से श्रद्धा हुई है दोनों अपने कारण से हैं। यदि ऐसा माने कि गुरु आये इसलिये श्रद्धा हुई, तो गुरु कर्ता और शिष्य की श्रद्धा हुई इसलिये वह उनका कार्य हुआ। इस-प्रकार दो द्रव्यों के कर्ता-कर्मपन हो जायेगा। अथवा ऐसा माने कि श्रद्धा की इसलिये गुरु आ गये तो श्रद्धा की और गुरु आये सो वह उसका कार्य कहलायेगा-और इस प्रकार दो द्रव्यों के कर्त्ता कर्मपन हो जायेगा। किन्तु जो श्रद्धा हुई सो वह श्रद्धा की पर्याय के कारण से हुई, और जो गुरु आये सो वह गुरु की पर्याय के कारण से आये.—इस प्रकार दोनों स्वतंत्र हैं।

६— शास्त्र से ज्ञान नहीं होता।

शास्त्र के सन्मुख आ जाने से ज्ञान हो गया हो सो बात नहीं है, किन्तु उस समय अपनी योग्यता है, उस क्षण जीव अपनी शक्ति से ज्ञान करता है, और तब शास्त्र निमित्त के रूप में विद्यमान है। ज्ञान होना हो इसलिये शास्त्र को आना ही पडता है ऐसी बात नहीं है, और ऐसा भी नहीं है कि शास्त्र आया इसलिये ज्ञान हुआ है।

आत्मा के सामान्य ज्ञानस्वभाव का विशेषरूप परिणमन होकर ही ज्ञान होता है। वह ज्ञान निमित्त के अवलम्बन के बिना और राग के आश्रय के बिना सामान्य ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही होता है।

७-- कुम्हार के कारण घडा नहीं बना ।

मिट्टी की जिस समय की पर्याय में घडा बनने की योग्यता है उसी समय वह अपने उपादान से ही घडे के रूप मे हो जाती है, और उस समय कुम्हार की उपस्थिति अपने निज के कारण मे होती है—जिसे निमित्त कहा जाता है । जब घड़ा बनना है तब— उस समय कुम्हार वगैरह न हों ऐसा नहीं हो सकता किन्तु कुम्हार आया इसलिये मिट्टी की अवस्था घडा-रूप हो गई यो बात नहीं है, और ऐसा भी नहीं है कि घडा बनना था इसलिये कुम्हार को आना पड़ा । मिट्टी में उस समय की स्वतन्त्र पर्याय की योग्यता से घडा बना है और उस समय कुम्हार अपनी पर्याय की स्वतन्त्र योग्यता मे उपस्थित था किन्तु कुम्हार ने घडा नहीं बनाया, और न कुम्हार के निमित्त से ही घड़ा बना है ।

८— एक पर्याय में दो प्रकार की योग्यता हो ही नहीं सकती ।

प्रश्न— जब तक कुम्हार रूप निमित्त नहीं था तब तक मिट्टी में से घडा क्यों नहीं बना ?

उत्तर— यहां यह विशेष विचारणीय है कि जिस समय मिट्टी में से घडा नहीं बना उस समय क्या उसमें घड़ा बनने की योग्यता थी ? अथवा उसमें घड़ा बनने की योग्यता ही नहीं थी ?

यदि ऐसा माना जाये कि जब मिट्टी मे से घडा नहीं बना था तब— उस समय भी मिट्टी में घडा बनने की योग्यता थी, परन्तु निमित्त नहीं मिला इसलिये घडा नहीं बना तो यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि जब मिट्टी मे घडारूप अवस्था नहीं हुई, तब उसमें पिंडरूप अवस्था है और उस समय वह अवस्था होने की ही उसकी योग्यता है । जिस समय मिट्टी की पर्याय में पिंडरूप अवस्था की योग्यता होती है, उसी समय उसमें घडारूप अवस्था की योग्यता नहीं हो सकती— क्यो कि एक ही पर्याय में एक साथ दो प्रकार की योग्यता कदापि नहीं हो सकती । यह सिद्धान्त अत्यन्त महत्व का है, यह प्रत्येक स्थान पर लागू करना चाहिये ।

इस सिद्धान्त से निश्चय हुआ कि मिट्टी में जिस समय पिंडरूप अवस्था थी उस समय उसमें घडारूप अवस्था की योग्यता ही नहीं थी, इसलिये उससे घडा नहीं बना, परन्तु यह बात मिथ्या है कि कुम्हार नहीं था इसलिये घडा नहीं बना ।

६—'निमित्त न मिले तो कार्य नहीं होता' यह मान्यता मिथ्या है। तत्सम्बन्धी पुत्र का दृष्टांत।

'किसी के पुत्र होना था किन्तु विषयरूप निमित्त नहीं मिला इसलिये नहीं हुआ' यह बात मिथ्या है। यदि पुत्र होना ही हो तो जिस समय होना हो उस समय होता ही है, और उस समय स्वयं विषयादि निमित्त होते हैं। पुत्र अर्थात् एक आत्मा और अनन्त रजकण आना तो हैं, किन्तु पति-पत्नी ब्रह्मचर्य पालन कर रहे हैं इसलिये पुत्र के होने का निमित्त नहीं मिलता, इसलिये वे आते हुए रुक गये हैं—यह मान्यता मिथ्या है। पुत्र होना ही न था अर्थात् उस जीव और अनन्त रजकणों की क्षेत्रान्तररूप अवस्था की योग्यता ही वहाँ नहीं आनी थी इसीलिये वे नहीं आये ।

'पुत्र होने की योग्यता तो थी किन्तु निमित्त नहीं मिला इसलिये नहीं हुआ, और जब निमित्त मिल गया तब हुआ,'—इस मान्यता का अर्थ यह हुआ कि निमित्त ने कार्य किया, यह दो द्रव्यों की एकत्व बुद्धि ही है। अथवा माता, पिता ने निमित्त का मार्ग ग्रहण नहीं किया इसलिये पुत्र नहीं हुआ, यह बात भी मिथ्या है। जब पुत्र होने की योग्यता होती है तब होता है और उस समय विषयादि का अशुभ विकल्प तथा शरीर की योगरूप क्रिया होती है—उसे निमित्त कहते हैं। किन्तु पुत्र उत्पन्न होना था इसलिये विकल्प अथवा क्रिया नहीं होती और क्रिया तथा विकल्प हुआ इस कारण से पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ। और ऐसा भी नहीं है कि विषय का अशुभ विकल्प हुआ इसलिये देह की क्रिया हुई, और देह की क्रिया होनी थी, इसलिये अशुभ विकल्प हुआ। किन्तु प्रत्येक द्रव्य ने अपना कार्य स्वतन्त्रता से किया है ।

१०— जीव निमित्तों को मिला या हटा नहीं सकता, मात्र अपना लक्ष बदल सकता है।

जीव अपने में शुभभाव कर सकता है, किन्तु शुभभाव करने से वह बाहर के शुभ निमित्तों को प्राप्त कर सके अथवा अशुभ निमित्तों को दूर कर सके सो बात नहीं है। जीव स्वयं अशुभ निमित्तों पर से लक्ष को हटाकर शुभ निमित्तों पर लक्ष भले करे, किन्तु निमित्तों को निकट लाने अथवा दूर करने में वह समर्थ नहीं है। किसी जीव ने जिनमंदिर अथवा किसी अन्य धर्मस्थान का शिलान्यास करने का शुभभाव किया इसलिये जीव के भाव के कारण बाह्य में शिलान्यास की क्रिया हुई,—यह बात मिथ्या है। जीव मात्र निमित्त पर लक्ष कर सकता है अथवा लक्ष को छोड़ सकता है, किन्तु वह निमित्तरूप पर पदार्थों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। वस्तु का ऐसा स्वभाव ही है। इसे समझना सो भेदज्ञान है।

११— पंचमहाव्रत के कारण चारित्र दशा नहीं है और चारित्र के कारण वस्त्रत्याग नहीं है।

जिसके आत्मा की निर्मल, वीतराग, चारित्रदशा होती है उसके उस दशा के होने से पूर्व चारित्र को अंगीकार करने का विकल्प उठता है। जो विकल्प उठा सो राग है, उसके कारण वीतरागभावरूप चारित्र प्रगट नहीं होता, चारित्र तो उसी समय की पर्याय के पुरुषार्थ से प्रगट हुआ है।

चारित्रदशा में शरीर की नग्नदशा शरीर के कारण होती है। आत्मा को चारित्र अंगीकार करने का विकल्प उठा उसके कारण, अथवा चारित्रदशा प्रगट की इसलिये शरीर पर से वस्त्र हट गये, ऐसी बात नहीं है, किन्तु उस समय वस्त्रों के परमाणुओं की अवस्था में क्षेत्रान्तरित होने की वैसी ही योग्यता थी इसलिये वे हट गये हैं। आत्मा ने विकल्प किया इसलिये उस विकल्प के आधीन होकर वस्त्र छूट गये,—यदि ऐसा हो तो विकल्प कर्ता हुआ और जो वस्त्र छूटे वह उसका कर्म हुआ, अर्थात् दोनों द्रव्य एक हो गये। इसी प्रकार ऐसा भी नहीं है कि वस्त्र छूटना थे इसलिये जीव के

विकल्प उठा है, क्यों कि यदि ऐसा हो तो वस्त्र की पर्याय कर्ता और वह विकल्प उसका कर्म कहलायेगा, और इस प्रकार दो द्रव्य एक हो जायेंगे। किन्तु जब स्वभाव के भानपूर्वक चारित्र का विकल्प उठता है और चारित्र ग्रहण करता है, तब वस्त्र छूटने का प्रसंग सहज ही उसके कारण से होता है। किन्तु 'मैंने वस्त्रों का त्याग किया अथवा मेरा विकल्प निमित्त हुआ, इसलिये वस्त्र छूट गये ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है'। वीतराग चारित्र से पूर्व पचमहाव्रतादि का विकल्प आये बिना नहीं रहता किन्तु उस विकल्प के आश्रय से चारित्र दशा प्रगट नहीं होती।

चारित्र में पचमहाव्रत के विकल्प को निमित्त कहा जाता है। विकल्प तो राग है उससे स्वभावोन्मुख नहीं हुआ जाता, किन्तु जब विकल्प को छोड़कर स्वभाव की ओर उन्मुख होता है तब पूर्व के विकल्प को निमित्त कहा जाता है। पचमहाव्रतादि के विकल्प को चारित्र का निमित्त कब कहा जाता है? यदि स्वभाव में लीनता का पुरुषार्थ करके चारित्र दशा प्रगट करे तो विकल्प उसका निमित्त कहा जा सकता है। किन्तु यह मान्यता मिथ्यात्व है कि– यदि पचमहाव्रत का विकल्परूप निमित्त करूं तो चारित्र प्रगट हो। इसी प्रकार व्यवहारदर्शन, व्यवहारज्ञान, और व्यवहारचारित्र के परिणाम करें तो उससे निश्चयदर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट हो, यह मान्यता भी मिथ्यात्व है।

१२— समय समय की स्वतंत्रता और भेदज्ञान।

यह बात प्रत्येक वस्तु के स्वतत्र स्वभाव की है। स्वभाव की स्वतत्रता को न समझे और यह माने कि 'निमित्त से होता है' तो वहाँ सम्यक्–श्रद्धा नहीं है, और सम्यक्–श्रद्धा के बिना ज्ञान सच्चा नहीं है, शास्त्र का पठन पाठन सच्चा नहीं है, व्रत सच्चे नहीं है, त्याग सच्चा नहीं है। प्रत्येक वस्तु में समय–समय की पर्याय की स्वतत्रता है। प्रत्येक पदार्थ में उसके कारण से समय–समय की उसकी पर्याय की योग्यता से कार्य होता है। पर्याय की योग्यता उपादान कारण है। और उस समय उस कार्य के लिये अनुकूलता का आरोप जिस पर आ सकता है, ऐसी योग्यता वाली दूसरी

वस्तु योग्यक्षेत्र में होती है, उसे निमित्त कहा जाता है, किन्तु उसके कारण से वस्तु में कुछ नहीं होता । ऐसी भिन्नता की यथार्थ प्रतीति भेदज्ञान है।

आत्मा और प्रत्येक परमाणु की पर्याय स्वतन्त्र है। जीव को पढ़ने का विकल्प उठा इसलिये पुस्तक हाथ में आगई ऐसी बात नहीं अथवा पुस्तक आगई इसलिये विकल्प उठा सो भी नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान होना था इसलिये पढ़ने का विकल्प उठा ऐसा भी नहीं है, और पढ़ने का विकल्प उठा इसलिये ज्ञान हुआ—सो भी नहीं है। किन्तु प्रत्येक द्रव्य ने उस समय स्वतन्त्रता से अपना अपना कार्य किया है। वीतरागी भेदविज्ञान यह बताता है कि—प्रतिसमय प्रत्येक पर्याय अपने स्वतन्त्र उपादान में ही कार्य करती है। वस्तुस्वरूप ऐसा पराधीन नहीं है कि निमित्त आए तो उपादान का कार्य हो किन्तु उपादान का कार्य स्वतन्त्र होता है, तब निमित्त उसकी अपनी योग्यता से होता है।

१३—सूर्य का उदय हुआ इसलिये छाया से धूप हो गई, यह बात मिथ्या है।

छाया से धूप होने की परमाणु की अवस्था में जिस समय योग्यता होती है उसी समय धूप होती है, और उस समय सूर्य इत्यादि निमित्तरूप में हैं। किन्तु यह बात मिथ्या है कि सूर्य इत्यादि का निमित्त मिला इसलिये छाया से धूप हो गई। अथवा छाया में से धूप के रूप में अवस्था होनी थी इसलिये सूर्य इत्यादि को आना पड़ा—यह बात भी मिथ्या है। सूर्य का उदय हुआ सो यह उसकी उस समय की योग्यता है, और जो परमाणु छाया से धूप के रूप में हुए हैं उनकी उस समय की वैसी ही योग्यता है।

१४—केवलज्ञान और वज्रवृषभनाराचसंहनन-दोनों की स्वतंत्रता।

जब केवलज्ञान होता है तब वज्रवृषभनाराचसंहनन निमित्त होता है। किन्तु ऐसा नहीं है कि वह वज्रवृषभनाराचसंहनन निमित्तरूप से है इसलिए केवलज्ञान है, और ऐसा भी नहीं है कि केवलज्ञान होना है इसलिये परमाणुओं को वज्रवृषभनाराचसंहननरूप होना पड़ा। जहाँ जीव की पर्याय में केवलज्ञान के पुरुषार्थ की जागृति होती है वहाँ शरीर के परमाणुओं में

वज्रवृषभनाराचसंहननरूप अवस्था उसकी योग्यता से होती है । दोनों की योग्यता स्वतन्त्र है, किसी के कारण से कोई नहीं है । जब जीव के केवलज्ञान प्राप्त करने की योग्यता होती है तब शरीर के परमाणुओं में वज्रवृषभनाराचसंहननरूप अवस्था की ही योग्यता होती है—ऐसा मेल स्वभाव से ही है, कोई एक दूसरे के कारण से नही है ।

१५—पैट्रोल समाप्त हो गया इसलिये मोटर रुक गई, यह बात सच नहीं है।

कोई मोटर चली जा रही हो और उसकी पैट्रोल की टकी के फूट जाने से उसमे से पैट्रोल निकल जाये और चलती हुई मोटर रुक जाये, तो वहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि पेट्रोल निकल गया है इसलिये मोटर रुक गई है । जिस समय मोटर मे गतिरूप अवस्था की योग्यता होती है उस समय वह गति करती है, उस समय पैट्रोल की अवस्था मोटर की टकी के क्षेत्र मे रहने की होती है। किन्तु यह बात मिथ्या है कि पैट्रोल है इसलिये मोटर चलती है । मोटर का प्रत्येक परमाणु अपनी स्वतन्त्र क्रियावतीशक्ति की योग्यता से गमन करता है । इसलिये यह बात ठीक नहीं है कि—पैट्रोल निकल गया इसलिये मोटर की गति रुक गई है । जिस क्षेत्र मे जिस समय रुकने की योग्यता थी उसी क्षेत्र मे और उसी समय मोटर रुकी है, और पैट्रोल के परमाणु भी अपनी योग्यता से अलग हुए हैं । यह बात सच नही है कि पैट्रोल समाप्त हो गया इसलिये मोटर रुक गई है ।

१६—वाणी अपने आप (परमाणुओं से) बोली जाती है, जीव उसका कर्ता नहीं ।

बोलने का विकल्प-राग हुआ इसलिये वाणी बोली गई—ऐसा नहीं है, और वाणी बोली जाने वाली थी इसलिये विकल्प हुआ— ऐसा भी नहीं है। यदि राग के कारण वाणी बोली जाती हो तो राग कर्ता और वाणी उसका कर्म कहलायेगा । और यदि ऐसा हो कि वाणी बोली जाने वाली थी इसलिये राग हुआ, तो वाणी के परमाणु कर्ता और राग उसका कर्म कहलायेगा । किन्तु

राग तो जीव की पर्याय है और वाणी परमाणु की पर्याय है—उनके कर्ता कर्म भाव कहां से होगा ? यदि जीव की पर्याय की योग्यता हो तो राग होता है, और वाणी उस परमाणु का उस समय का सहज परिणमन है। जब परमाणु स्वतन्त्रतया वाणीरूप में परिणमित होते है तब जीव के राग हो तो उसे निमित्त कहा जाता है। केवली भगवान के वाणी होती है तथापि राग नहीं होता।

१७— शरीर अपनी योग्यता से चलता है, जीव की इच्छा से नहीं।

जीव इच्छा करता है इसलिये शरीर चलता है, यह बात नहीं है। और शरीर चलता है इसलिये जीव के इच्छा होती है ऐसा भी नहीं है। शरीर के परामाणुओं में जब क्रियावतीशक्ति की योग्यता से गति होती है, तब किसी जीव के अपनी अवस्था की योग्यता से इच्छा होती है और किसी के नहीं भी होती है। केवली के शरीर की गति होने पर भी इच्छा नहीं होती। इच्छा के निमित्त से शरीर चलता है—यह बात मिथ्या है, और यह बात भी मिथ्या है कि गति के निमित्त से इच्छा होती है।

१८—विकल्प निमित्त है इसलिये ध्यान जमता है— यह बात सच नहीं है।

चैतन्य के ध्यान का विकल्प उठता है सो राग है उस विकल्प रूपी निमित्त के कारण से ध्यान जमता हो सो बात नहीं है. किन्तु जहा ध्यान जमता हो वहा पहले विकल्प होता है। विकल्प के कारण ध्यान नहीं होता, और ध्यान के कारण विकल्प नहीं होता। जिस पर्याय में विकल्प था वह उस पर्याय की स्वतत्र योग्यता से था, और जिस पर्याय में ध्यान जमा है वह उस पर्याय की स्वतत्र योग्यता से जमा है।

१९—सम्यक् नियतिवाद और उसका फल।

प्रश्न —यह तो नियतिवाद हो गया ?

उत्तरः—यह सम्यक् नियतिवाद है, मिथ्या नियतिवाद नहीं है। सम्यक् नियतिवाद का अर्थ क्या है ? जिस पदार्थ में, जिस समय, जिस क्षेत्र में,

जिस निमित्त से जैसा होना है वैसा होता ही है, उसमें किंचित्मात्र भी परिवर्तन करने के लिये कोई समर्थ नहीं है–ऐसा ज्ञान में निर्णय करना सो सम्यक् नियतिवाद है, और उस निर्णय में स्वभाव की ओर का अनंत पुरुषार्थ आ जाता है। जिस ज्ञान ने यह निर्णय किया कि सभी नियति है उस ज्ञान में यह भी निर्णय हो गया कि किसी भी द्रव्य में कुछ भी परिवर्तन करने के लिये मैं समर्थ नहीं हूँ। इस प्रकार नियत का निर्णय करने पर 'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ' ऐसा अहंकार दूर हो गया और ज्ञान पर से उदासीन होकर स्वभावोन्मुख हो गया।

अपनी पर्याय भी क्रमबद्ध ही है। उस क्रमबद्धता का निर्णय करने वाला ज्ञान राग के होने पर भी उसका निषेध करके द्रव्यस्वभाव की ओर उन्मुख होता है। जब राग को जानता है तब ज्ञान में ऐसा विचार करता है कि मेरी क्रमबद्ध पर्यायें मेरे द्रव्य में से प्रगट होती है: त्रिकाल–द्रव्य ही एक के बाद एक पर्याय को द्रवित करता है वह त्रिकाल–द्रव्य रागस्वरूप नहीं है, इसलिये वह जो राग हुआ है सो भी मेरा स्वरूप नहीं है और मैं उसका कर्ता नहीं हूँ। इस प्रकार सम्यक नियतिवाद का अपने ज्ञान में जिसने निर्णय किया उस जीव का ज्ञान अपने शुद्ध स्वभाव की ओर उन्मुख होता है और उसके स्वभाव में श्रद्धा ज्ञान होते है। वह पर से उदासीन हुआ, राग का अकर्ता हुआ और पर से तथा विकार से हटकर उसकी बुद्धि स्वभाव में ही रुक गई यह सम्यक् नियतिवाद का फल है। इसमें ज्ञान और पुरुषार्थ की स्वीकृति है। किन्तु जो जीव नियतिवाद को मानता है अर्थात् यह मानता है कि जैसा होना होगा वैसा होगा, परन्तु नियतिवाद के निर्णय में अपना जो ज्ञान और पुरुषार्थ आता है उसका स्वीकार नहीं करता अर्थात् स्वभावोन्मुख नहीं होता वह मिथ्यादृष्टि है, और नियतिवाद गृहीतमिथ्यात्व का भेद है, इसलिये वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है।

२०—सम्यक नियतिवाद में, पुरुषार्थ इत्यादि पांचों समवाय एक साथ हैं।

जो अज्ञानी यथार्थ निर्णय नहीं कर सकते उन्हे ऐसा लगता है कि यह तो एकान्त नियतिवाद है। किन्तु इस नियतिवाद का यथार्थ निर्णय करने

पर अपने केवलज्ञान का निर्णय हो जाता है। गुरु, शिष्य, शास्त्र इत्यादि समस्त पदार्थों की जिस समय जो योग्यता होती है वही पर्याय होती है, ऐसा निश्चय किया कि स्वयं उसका ज्ञाता रह गया, जानने में विकल्प नहीं है: अस्थिरता का जो विकल्प उठता है उसका कर्ता नहीं है। इस प्रकार क्रमशः पर्याय की श्रद्धा होने पर द्रव्यदृष्टि होने पर राग का कर्तृत्व उड जाता है। ऐसे सम्यक् नियतिवाद की श्रद्धा में ही पाँचों समवाय एक साथ समा जाते हैं। पहले तो स्वभाव का ज्ञान और श्रद्धा की सो पुरुषार्थ, उसी समय जो निर्मल पर्याय प्रगट होनी नियत थी सो वही पर्याय प्रगटी है–वह नियति, उस समय जो पर्याय प्रगट हुई वही स्वकाल और जो पर्याय प्रगट हुई वह स्वभाव में थी–वही प्रगट हुई है इसलिये वह स्वभाव और उस समय पुद्गलकर्म का स्वयं अभाव होता है सो उस अभावरूप निमित्त एवं सद्गुरु इत्यादि हो सो वे सद्भाव रूप निमित्त है। क्रमबद्ध पर्याय ही होती है। इसकी श्रद्धा करने पर अथवा सम्यक् नियतिवाद का निर्णय करने पर जीव जगत् का साक्षी हो जाता है। इसमें स्वभाव का अनन्त पुरुषार्थ समा जाता है, यह जैनदर्शन का मूलभूत रहस्य है।

२१— सम्यक नियतिवाद और मिथ्या नियतिवाद

गोमट्टसार कर्मकाड की ८८२ वीं गाथा में जिस नियतिवादी जीव को गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है वह जीव तो नियतिवाद की बात करता है, किन्तु अपने ज्ञान में ज्ञाता–दृष्टापन का पुरुषार्थ नहीं करता। यदि सम्यक् नियतिवाद का यथार्थ निर्णय करे तो उसमें स्वभाव के ज्ञाता–दृष्टापन का पुरुषार्थ आ ही जाता है। किन्तु वह जीव तो मात्र परलक्ष मे ही नियतिवाद को मान रहा है और नियतिवाद के निर्णय में अपना जो ज्ञान और पुरुषार्थ कार्य करता है उसे वह स्वीकार नहीं करता इसलिये वह जीव मिथ्यानियतिवादी है। और उसी को गृहीतमिथ्यात्वी कहा है। नियतिवाद का सम्यक् निर्णय गृहीत एवं अगृहीत मिथ्यात्व का नाश करने वाला है। सम्यक् नियतिवाद कहो या स्वभाव कहो, उसमें उस प्रत्येक समय की पर्याय की स्वतन्त्रता सिद्ध हो

जाती है। यदि इस न्याय को जीव बराबर समझे तो उपादान निमित्त सम्बन्धी सभी गड़बड़ दूर हो जाये। क्योंकि जिस वस्तु में जिस समय जो पर्याय होती है वही होती है तो फिर 'अमुक निमित्त चाहिये अथवा अमुक निमित्त के बिना नहीं हो सकती' ऐसी बात को अवकाश ही कहाँ है? सम्यक् नियतिवाद का निर्णय करने में पुरुषार्थ आता है, सच्ची श्रद्धा–ज्ञान कार्य करता है। स्वभाव में बुद्धि रुकती है– तथापि उस सबको जो जीव नहीं मानता और नियतिवाद की बात करता है उस जीव को ऐकान्तिक गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा गया है। किन्तु जो जीव नियतिवाद को मानकर पर के और राग के कर्तृत्व का अभाव करता है, तथा ज्ञाता–दृष्टापन का साक्षी-भाव प्रगट करता है, वह जीव अनन्त पुरुषार्थी सम्यग्दृष्टि है।

२२— कौन कहता है कि सम्यक् नियतिवाद गृहीतमिथ्यात्व है?

सम्यक् नियतिवाद गृहीतमिथ्यात्व नहीं, किन्तु वीतरागता का कारण है। जो ऐसे सम्यक् नियतिवाद को एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं उन्होंने इस बात को यथार्थतया समझा तो क्या, किन्तु भलीभाँति सुना तक नहीं है। 'समस्त पदार्थों में जैसा होना होता है वैसा ही होता है।' यह निर्णय करने पर एक पर्याय से दृष्टि हटकर त्रिकाल की ओर लम्बायमान होती है अर्थात् द्रव्यदृष्टि हो जाती है, अर्थात् पर को और अपने को वर्तमान पर्यायमात्र तक ही न माना किन्तु स्थायी मान लिया। आत्मा का सदा का स्वभाव शुद्ध राग-रहित है, इसलिये वह जीव राग का अकर्ता हुआ और पर पदार्थों को चिरस्थायी माना अर्थात् उन पदार्थों में उनकी त्रिकाल की पर्यायों की योग्यता विद्यमान है, तदनुसार ही उसकी अवस्था स्वतन्त्रतया होती है।

इस प्रकार सम्यक् नियतिवाद के निर्णय में स्वतन्त्रता की प्रतीति हुई। अपनी अवस्था का आधार द्रव्य है, और द्रव्यस्वभाव शुद्ध है, ऐसी प्रतीति के साथ 'जो होना हो सो होता है' इस प्रकार जो मानता है सो वह जीव वीतरागदृष्टि है। यह नियतिवाद वीतरागता का कारण है।

नियतिवाद के दो प्रकार हैं—एक सम्यक् नियतिवाद और दूसरा मिथ्या-नियतिवाद। सम्यक् नियतिवाद वीतरागता का कारण है, उसका स्वरूप ऊपर बताया है। कोई जीव इस प्रकार नियतिवाद को मानता तो है कि 'जैसा होना हो वैसा ही होता है' किन्तु पर का लक्ष और पर्यायदृष्टि को छोड़कर स्वभावोन्मुख नहीं होता। जो नियतिवाद का निश्चय करनेवाला अपने ज्ञान और पुरुषार्थ की स्वतन्त्रता को स्वीकार न करे, पर के और विकार के कर्तृत्व के अभिमान को न छोड़े—इस प्रकार पुरुषार्थ को उड़ाकर स्वच्छन्दता से प्रवृत्ति करे—उसे गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है।

'जो होना हो सो होता है' इस प्रकार मात्र परलक्ष से माना है सो यथार्थ नहीं है, 'होना हो सो होता है' यदि ऐसा यथार्थ निर्णय हो तो जीव का ज्ञान पर के प्रति उदासीन होकर अपने स्वभाव की ओर झुक जाये, और उस ज्ञान में यथार्थ शान्ति हो जाय। उस ज्ञान के साथ ही पुरुषार्थ, नियति, काल, स्वभाव और कर्म—यह पाँचों समवाय आजाते हैं।

२३—मिथ्या नियतिवाद के उपलक्षण।

प्रश्न—मिथ्या नियतिवादी जीव की जब परवस्तु बिगड़ जाती है अथवा नष्ट हो जाती है, तब वह मानकर शान्ति तो रखता ही है कि 'जैसा होना था सो हो गया,' तब फिर उसके सम्यक् नियतिवाद का निर्णय क्यों न माना जाये?

उत्तर—वह जीव जो शान्ति रखता है सो यथार्थ नहीं है, किन्तु मन्द-कषायरूप शान्ति है। यदि नियतिवाद का यथार्थ निर्णय हो तो, जिस प्रकार उस एक पदार्थ का जैसा होना था सो हुआ उसी प्रकार समस्त पदार्थों का जैसा होना हो सो वैसा ही होता है,- ऐसा भी निर्णय होना चाहिये। और यदि ऐसा हो तो फिर यह सब मान्यता दूर हो जाती है कि 'मैं परद्रव्य का निमित्त होऊं तो उसका कार्य हो, निमित्त हो तो ही कार्य होता है, किसी समय निमित्त की प्रबलता होती है।' 'सब नियत है' अर्थात् जिस कार्य में, जिस समय, जिस निमित्त की उपस्थिति रहनी हो उस कार्य में, उस समय,

वह निमित्त स्वयमेव होता ही है। तब फिर ऐसी मान्यताओं को अवकाश ही कहा रहेगा कि 'निमित्त मिलाना चाहिये,' अथवा निमित्त की उपेक्षा नहीं की जा सकती, अथवा निमित्त न हो तो कार्य नहीं होता। यदि सम्यक्-नियतिवाद का निर्णय हो तो निमित्ताधीनदृष्टि दूर हो जाती है।

२४—मिथ्यानियतिवाद को 'गृहीत' मिथ्यात्व क्यों कहा है?

प्रश्न—मिथ्यानियतिवाद को गृहीतमिथ्यात्व क्यों कहा है?

उत्तर—निमित्त से धर्म होता है, राग से धर्म होता है, शरीरादि का आत्मा कुछ कर सकता है ऐसी मान्यता के रूप में अगृहीतमिथ्यात्व अनादिकाल से विद्यमान था। और जन्म के बाद शास्त्रों को पढ़कर अथवा कुगुरु इत्यादि के निमित्त से मिथ्या-नियतिवाद का नवीन कदाग्रह ग्रहण किया इसलिये उसे गृहीतमिथ्यात्व कहा जाता है। पहले जिसे अनादिकालीन अगृहीतमिथ्यात्व होता है, उसी को गृहीतमिथ्यात्व होता है। जीव इन्द्रिय-विषयों की पुष्टि के लिये 'जो होना होगा सो होगा' ऐसा कहकर माया में रंजित होने की आदत से एक स्वच्छन्दता का मार्ग ढूंढ निकालते हैं, उसका नाम गृहीत-मिथ्यात्व है, और यह सम्यक् नियतिवाद स्वभावभाव है स्वतंत्रता है, वीतरागता है।

२५—सम्यक् नियतिवाद के निर्णय से निमित्ताधीनदृष्टि और स्व-पर की एकत्व-बुद्धि दूर हो जाती है।

जिस वस्तु में जिस समय जैसी पर्याय होनी हो और जिस निमित्त की उपस्थिति में होनी हो, उस वस्तु में उस समय वैसी पर्याय होती ही है और वे निमित्त ही उस समय होते हैं न तो दूसरी पर्याय होती है और न दूसरा निमित्त होता है। इस नियम में तीनलोक और तीन काल में कोई परिवर्तन नहीं होता। यही यथार्थ नियति का निर्णय है इससे आत्मा सत्स्वभाव के श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आजाते हैं, और निमित्त के ऊपर की दृष्टि दूर हो जाती है। जिसकी ऐसी मान्यता है कि 'मैं पर का कर्ता तो नहीं हूं किन्तु मैं

पर का निमित्त होऊँ' वह मिथ्यादृष्टि है। स्वयं निमित्त है इसलिये पर का कार्य होता है-ऐसी बात नहीं है, किन्तु प्रस्तुत वस्तु में उसकी योग्यता से जो कार्य होता है उसमें अन्य वस्तु को निमित्त कहा जाता है। 'मैं निमित्त होऊँ' इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तु में कार्य नहीं होना था किन्तु मैं निमित्त हुआ तब उसमें कार्य हुआ, अर्थात् वह तो स्व-पर की एकत्व-बुद्धि ही हुई।

२६— लकड़ी अपने आप ऊँची उठती है, हाथ के निमित्त से नहीं।

'यह लकड़ी है, इसमें ऊपर उठने की योग्यता है, किन्तु जब मेरा हाथ उसे स्पर्श करता है तब वह उठती है अर्थात् जब मेरा हाथ उसके लिये निमित्त होता है तब वह उठती है।' ऐसा मानने वाले जीव वस्तु की पर्याय को स्वतंत्र नहीं मानते अर्थात् उनकी संयोगीदृष्टि है, वे वस्तु के स्वभाव को ही नहीं मानते, इसलिये मिथ्यादृष्टि है। जब लकड़ी ऊपर नहीं उठती तब उसमे ऊपर उठने की योग्यता ही नही है, और जब उसमें योग्यता होती है तब वह स्वयं ऊपर उठती है वह हाथ के निमित्त से ऊपर नहीं उठती, किन्तु जब वह ऊपर उठती है तब हाथ इत्यादि निमित्त स्वयमेव होते ही है। इस प्रकार उपादान निमित्त का मेल स्वभाव से ही होता है। निमित्त का ज्ञान कराने के लिये यों कहने का मात्र व्यवहार है कि 'हाथ के निमित्त से लकड़ी ऊपर उठी है।'

२७— लोहचुम्बक सुई को नहीं खींचता।

लोहचुम्बक की ओर लोहे की सुई खिंचती है, वहाँ लोहचुम्बक सुई को नहीं खींचता किन्तु सुई अपनी योग्यता से ही गमन करती है।

प्रश्न—यदि सुई अपनी योग्यता से ही गमन करती हो तो जब लोह-चुम्बक उसके पास नहीं था तब उसने गमन क्यों नहीं किया? और जब लोहचुम्बक निकट आया तभी क्यों गमन किया?

उत्तर—पहले सुई मे गमन करने की योग्यता ही नही थी, इसलिये उस समय लोहचुम्बक उसके पास (सुई को खींचने योग्य क्षेत्र मे) हो ही नही

सकता । और जब सुई में क्षेत्रान्तर करने की योग्यता होती है तब लोहचुम्बक और उसके बीच अन्तराय हो ही नहीं सकता । ऐसा ही उपादान निमित्त का सबन्ध है कि दोनों का मेल होता है । तथापि एक दूसरे के कारण से किसी की क्रिया नहीं होती । सुई की गमन करने की योग्यता हुई इसलिये लोहचुम्बक निकट आया–यह बात नहीं है, और लोहचुम्बक निकट आया इसलिये सुई खिचगई ऐसा भी नहीं है; किन्तु जब सुई की क्षेत्रान्तर होने की योग्यता होती है, उसी समय लोहचुम्बक में उस क्षेत्र में ही रहने की योग्यता होती है,–इसी का नाम निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है।

२८—निमित्तपन की योग्यता ।

प्रश्न— जब कि लोहचुम्बक सुई में कुछ भी नहीं करता तो फिर उसी को निमित्त क्यों कहा है ? अन्य सामान्य पत्थर को निमित्त क्यों नहीं कहा ? जैसे लोहचुम्बक सुई मे कुछ नहीं करता तथापि वह निमित्त कहलाता है, तब फिर लोहचुम्बक की भाँति अन्य पत्थर भी सुई में कुछ नहीं करते तथापि उन्हें निमित्त क्यों नहीं कहा जाता ?

उत्तर—उस समय उस कार्य के लिये लोहचुम्बक पत्थर में ही निमित्तपन की योग्यता है, अर्थात् उपादान के कार्य के लिये अनुकूलता का आरोप की जाने योग्य योग्यता लोहचुम्बक की उस समय की पर्याय में है, दूसरे पत्थर में वैसी योग्यता उस समय नहीं है। जैसे सुई मे उपादानता की योग्यता है, इसलिये वह खिचती है, इसी प्रकार उसी समय लोहचुम्बक में निमित्तपन की योग्यता है, इसलिये उसे निमित्त कहा जाता है। एक समय की उपादान की योग्यता उपादान में है, और एक समय की निमित्त की योग्यता निमित्त में है, किन्तु दोनों की योग्यता का मेल है इसलिये अनुकूल निमित्त कहलाता है। लोहचुम्बक में निमित्तपन की जो योग्यता है उसे अन्य समस्त पदार्थों से पृथक् करके पहिचानने के लिये 'निमित्त' कहा जाता है, किन्तु उसके कारण से सुई में विलक्षणता नहीं होती। जब उपादान में कार्य होता है तब व्यवहार से आरोप से दूसरे पदार्थ को

निमित्त कहा जाता है। ज्ञान का स्वभाव स्वपर-प्रकाशक है, इसलिये वह उपादान और निमित्त दोनो को जानता है।

२९—निमित्त का स्वरूप समझने के लिये धर्मास्तिकाय का दृष्टांत।

सभी निमित्त 'धर्मास्तिकायवत्' है (देखो इष्टोपदेश गाथा ३५) धर्मास्तिकाय पदार्थ लोक मे सर्वत्र है। जब वस्तु अपनी योग्यता से चलती है तब धर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है और जब वस्तु नहीं चलती तो उसे निमित्त नही कहा जाता। धर्मास्तिकाय की भांति ही समस्त निमित्तों का स्वरूप समझना चाहिये। धर्मास्तिकाय मे निमित्तपन की ऐसी योग्यता है कि पदार्थ गति करते है तब उन्ही मे उसे निमित्त कहा जाता है, किन्तु निमित्त कहलाने की योग्यता तो धर्मास्तिकाय में है।

३०—सिद्ध भगवान अलोक मे क्यों नही जाते?

सिद्ध भगवान अपनी क्षेत्रान्तर की योग्यता से जब एक समय मे लोकाग्र मे गमन करते है तब धर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है, परन्तु कभी धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण उनका अलोक मे गमन नहीं होता, ऐसी बात नही है। वे लोकाग्र मे स्थित होते है सो वह भी उनकी ही वैसी योग्यता के कारण से है, उस समय अधर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है।

प्रश्न—सिद्ध भगवान लोकाकाश के बाहर गमन क्यों नहीं करते?

उत्तर—उनकी योग्यता ही ऐसी है, क्योंकि वह लोक का द्रव्य है और उसकी योग्यता लोक के अन्त तक ही जाने की है, लोकाकाश से बाहर जाने की उसमे योग्यता ही नहीं है। 'अलोक मे धर्मास्तिकाय का अभाव है इसलिये सिद्ध वहा गमन नहीं करते' ("धर्मास्तिकायाभावात") यह मात्र व्यवहारनय का कथन है, अर्थात् उपादान में स्वयं अलोकाकाश में जाने की योग्यता नहीं होती तब निमित्त भी नहीं होता, ऐसा उपादान निमित्त का मेल बताने के लिये वह कथन है।

३१—प्रत्येक पदार्थ का कार्य स्वतंत्र है।

किसी ने अपने मुनीम को पत्र लिखा कि पांच हजार रुपया बैंक में जमा करा देना, और मुनीम ने बैंक में रुपया जमा करा दिया। यहाँ पर जीव ने पत्र लिखने का विकल्प किया इसलिये पत्र लिखा गया ऐसी बात नहीं है, और ऐसा भी नहीं है कि पत्र आया इसलिये मुनीम के बैंक में रुपया जमा कराने का विकल्प हुआ तथा ऐसा भी नहीं है कि मुनीम के विकल्प उठा इसलिये बैंक मे रुपया जमा हुए। इसी प्रकार रुपया बैंक में जमा होना थे इसलिये मुनीम के मन में विकल्प उठा—ऐसा भी नहीं है. इसी प्रकार प्रत्येक मे समझ लेना चाहिये। इस प्रकार जीव का विकल्प स्वतन्त्र है जब मुनीम को विकल्प उठा तब पत्र निमित्त कहलाया, तथा बैंक में जाने की रुपयों की अवस्था हुई तब मुनीम के विकल्प को उसका निमित्त कहा गया।

३२—निमित्त के कारण उपादान में विलक्षण दशा नहीं होती।

प्रश्न—उपादान में निमित्त कुछ नहीं करता यह बात सच है, किन्तु जब निमित्त होता है तब उपादान में विलक्षण अवस्था तो होनी ही चाहिये। जैसे अग्निरूपी निमित्त के आने पर पानी को उष्ण होना ही चाहिये।

उत्तर—यह बात मिथ्या है जिस पानी की पर्याय का स्वभाव उसी समय गर्म होने का था वही पानी उसी अग्नि के संयोग में आया और अपनी योग्यता से स्वयं ही गर्म हुआ है, अग्नि के कारण उसे विलक्षण होना पड़ा हो सो बात नहीं है और अग्नि ने पानी को गर्म नहीं किया है।

३३—मिथ्यादृष्टि संयोग को देखता है, और सम्यक्दृष्टि स्वभाव को देखता है।

"**अग्नि से पानी गर्म हुआ है**"—ऐसी जो मान्यता है सो संयोगाधीन पराधीनदृष्टि है, और पानी अपनी योग्यता से ही गर्म हुआ है—ऐसी जो मान्यता है सो स्वतंत्र स्वभावदृष्टि है। जो संयोगाधीनदृष्टि है सो सम्यग्दृष्टि है।

मिथ्यादृष्टि जीव वस्तु के स्वभाव की समय समय की योग्यता से प्रत्येक कार्य होता है, उस स्वभाव को नहीं देखता किन्तु निमित्त के संयोग को देखता है, यही उसकी पराधीनदृष्टि है। और उस दृष्टि से कभी भी पर की एकत्व-बुद्धि दूर नहीं होती। सम्यक्दृष्टि जीव स्वतंत्र वस्तुस्वभाव को देखता है कि प्रत्येक वस्तु की समय समय की योग्यता से ही उसका कार्य स्वतन्त्रता से होता है।

३४—उपादान और निमित्त दोनों की स्वतंत्र योग्यता।

(वस्त्र और अग्नि)

वस्त्र में जिस समय, जिस क्षेत्र में, जिस संयोग में जलने की योग्यता होती है उस समय, उस क्षेत्र में, उस संयोग में उसकी जलने की पर्याय होती है, और अग्नि उस समय स्वयं होती है। अग्नि आई इसलिये वस्त्र जल गया ऐसी बात नहीं है, और ऐसा भी नहीं है कि वस्त्र में जल जाने की अवस्था होने की योग्यता हो, किन्तु अग्नि या दूसरा योग्य संयोग न मिले तो वह अवस्था रुक जाती है। जिस समय योग्यता होती है उसी समय वह अवश्य जलता है और उस समय अग्नि भी उपस्थित होती है। तथापि अग्नि की उपस्थिति के कारण वस्त्र की अवस्था में कोई भी विलक्षणता नहीं होती। यह मान्यता मिथ्या है कि अग्नि ने वस्त्र को जला दिया है।

यदि कोई पूछे कि—वस्त्र के जलते समय अमुक ही अग्नि थी और दूसरी अग्नि नहीं थी, इसका क्या कारण है? उसका उत्तर यह है कि *उस समय जो अग्नि थी उसी अग्नि में निमित्तता की योग्यता थी,* दूसरी अग्नि हो ही नहीं सकती, क्यों कि उसमें निमित्तता की योग्यता ही नहीं थी। उपादान के समय जिस निमित्त की योग्यता होती है वही निमित्त होता है; दूसरा हो ही नहीं सकता। सबकी अपने कारण से अपनी अवस्था हो रही है। वहाँ अज्ञानी यह मानता है कि—'यह निमित्त से हुआ है अथवा निमित्त ने किया है।

३५—उपादान और निमित्त दोनों की स्वतंत्र योग्यता।
(आत्मा और कर्म)

आत्मा अपनी पर्याय में जब राग-द्वेष करता है तब कर्म के जिन परमाणुओं की योग्यता होती है वे उदयरूप होते हैं कर्म न हो ऐसा नहीं हो सकता, किन्तु कर्म उदय में आया इसलिये जीव के राग द्वेष हुआ, यह मान्यता मिथ्या है। और रागद्वेष किया इसलिये कर्म आया यह मान्यता भी मिथ्या है। जीव के अपने पुरुषार्थ की अशक्ति से रागद्वेष होने की योग्यता थी इसीलिये राग-द्वेष हुऐ है और उस समय जिन कर्मों में योग्यता थी वे कर्म उदय मे आये है और उन्ही को निमित्त कहा जाता है किन्तु उस कर्म के कारण जीव की पर्याय में रागद्वेष या विलक्षणता नहीं हुई है।

जब ज्ञान की पर्याय अपूर्ण हो तब ज्ञानावरण कर्म में ही निमित्तपन की योग्यता है। जीव की पर्याय मे जब जीव मोह करता है तब मोहकर्म को ही निमित्त कहा जाता है ऐसी उन कर्मपरमाणुओं की योग्यता है। जैसे उपादान मे प्रतिसमय स्वतंत्र योग्यता है उसी प्रकार निमित्त के रूप में मोहकर्म के प्रत्येक परमाणु में समय-समय की स्वतन्त्र योग्यता है।

प्रश्न—क्या यह सच नहीं है कि जीव ने रागद्वेष किये इसलिये परमाणुओं में कर्म अवस्था हुई है ?

उत्तर—नहीं, अमुक परमाणु ही कर्मरूप हुए और जगत् के दूसरे परमाणु क्यों नहीं हुए ?—इसलिये जिन जिन परमाणुओं मे योग्यता थी वही परमाणु कर्मरूप परिणत हुए है। वे अपनी योग्यता से ही कर्मरूप हुऐ हैं, जीव के रागद्वेष के कारण नहीं।

३६—परमुखापेक्षी नहीं होना है, किन्तु अपने पर ही देखना है।

प्रश्न—जब परमाणुओं मे कर्मरूप होने की योग्यता होती है तब आत्मा को रागद्वेष करना ही चाहिये, क्योंकि परमाणुओं मे कर्मरूप होने का उपादान है, इसलिये वहाँ जीव के विकाररूप निमित्त होना ही चाहिये, क्या यह बात ठीक है ?

उत्तर— यह प्रश्न ही अज्ञानी का है। तुझे अपने स्वभाव में देखने का काम है या परमाणु में देखने का ? जिसकी दृष्टि स्वतन्त्र हो गई है वह आत्मा की ओर देखता है, और जिसकी दृष्टि निमित्ताधीन है वह परमुखापेक्षी होता है। जिसने यह यथार्थ निर्णय किया है कि 'जब जिस वस्तु की जो अवस्था होनी हो वही होती है,' उसके द्रव्यदृष्टि होती है— स्वभावदृष्टि होती है। उसकी स्वभावदृष्टि में तीव्ररागादि होते ही नहीं, और उस जीव के निमित्त से तीव्रकर्मरूप परिणमित होने की योग्यता वाले परमाणु ही इस जगत में नहीं होते। जीव ने अपने स्वभाव के पुरुषार्थ से सम्यक्दर्शन प्रगट किया वहाँ उस जीव के लिये मिथ्यात्वादि कर्मरूप से परिणमित होने की योग्यता विश्व के किसी परमाणु में होती ही नहीं है। सम्यक्दृष्टि के जो अल्प रागद्वेष है वह अपनी वर्तमान पर्याय की योग्यता से है, उस समय अल्पकर्मरूप से बधने की परमाणु की पर्याय में योग्यता है। इस प्रकार स्वलक्ष से प्रारम्भ करना है।

'जगत् के परमाणुओं में मिथ्यात्वादि कर्मरूप होने की योग्यता है, इसलिये जीव के मिथ्यात्वादि भाव होना ही चाहिये।' जिसकी ऐसी मान्यता है वह जीव स्वद्रव्य के स्वभाव को नहीं जानता, और इसलिये उस जीव के निमित्त से मिथ्यात्वादिरूप परिणमित होने योग्य परमाणु इस जगत् में विद्यमान हैं ऐसा जानना चाहिये। किन्तु स्वभावदृष्टि से देखने वाले जीव के मिथ्यात्व होता ही नहीं, और उस जीव के निमित्त से मिथ्यात्वादिरूप परिणमित होने की योग्यता ही जगत् के किसी परमाणु में नहीं होती। स्वभावदृष्टि से ज्ञानी विकार के अकर्ता हो गये हैं, इसलिये यह बात ही मिथ्या है कि 'ज्ञानी को विकार करना पड़ता है'। जो अल्पविकार होता है सो भी स्वभावदृष्टि के बल से पुरुषार्थ के द्वारा दूर किया जाता है। ऐसी स्वतन्त्र स्वभावदृष्टि (सम्यक्-श्रद्धा) किये बिना जीव जो कुछ शुभभावरूप व्रत, तप, त्याग करता है वह सब 'अरण्यरोदन' के समान मिथ्या है।

३७—'फूँक से पर्वत को उड़ाने की बात'!

शंका—'वस्तु में जब जो पर्याय होनी होती है सो होती है और

तब निमित्त अवश्य होता है, किन्तु निमित्त कुछ नहीं करता और निमित्त के द्वारा कोई कार्य नहीं होता;' यह तो फूक से पर्वत को उडाने जैसी बात है?

समाधान— नहीं, यहाँ फूँक से पर्वत को उडाने की बात नहीं है। पर्वत के अनन्त परमाणुओं में उड़ने की योग्यता हो तो पर्वत अपने आप उड़ता है। पर्वत को उडाने के लिये फूँक की भी आवश्यक्ता नहीं होती। यहाँ किसी के मन में यह हो सकता है कि 'अरे यह कैसी बात है ' क्या पर्वत भी अपने आप उडते होंगे ?' किन्तु भाई! वस्तु में जो काम होता है (जो पर्याय होती है), वह उसकी अपनी ही शक्ति से, योग्यता से होती है। वस्तु की शक्तियाँ अन्य की अपेक्षा नहीं रखती। परवस्तु का उसमें अभाव है तो वह क्या करे?

३८--उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त।

प्रश्न--निमित्त के दो प्रकार है-एक उदासीन दूसरा प्रेरक। इनमें से उदासीन निमित्त कुछ नही करता, परन्तु प्रेरक निमित्त तो उपादान को कुछ प्रेरणा करता है?

उत्तर--निमित्त के भिन्न भिन्न प्रकार बताने के लिये यह दो भेद है, किन्तु उनमे से कोई भी निमित्त उपादान में कुछ भी नहीं करता अथवा निमित्त के कारण से उपादान मे कोई विलक्षणता नहीं आती। प्रेरक निमित्त भी प्रेरणा नहीं करता। सभी निमित्त धर्मास्तिकायवत् है।

प्रश्न—प्रेरक निमित्त और उपादान निमित्त की क्या परिभाषा है?

उत्तर—उपादान की अपेक्षा से तो दोनों पर हैं, दोनों अकिंचित्कर हैं, इसलिये दोनों समान है। निमित्त की अपेक्षा से यह दो भेद हैं। जो निमित्त स्वय इच्छावान या गतिमान होता है वह प्रेरक निमित्त कहलाता है। और जो निमित्त स्वय स्थिर या इच्छारहित होता है, वह उदासीन निमित्त कहलाता है। इच्छावान जीव और गतिमान अजीव प्रेरक निमित्त हैं, और इच्छारहित जीव तथा गतिहीन अजीव उदासीन निमित्त है। परन्तु दोनों प्रकार के निमित्त

पर में बिल्कुल कार्य नहीं करते। जब घड़ा बनता है तब उसमें कुम्हार और चाक प्रेरक निमित्त है, तथा धर्मास्तिकाय इत्यादि उदासीन निमित्त हैं।

यह बात सच नहीं है कि भगवान महावीर के समवशरण में गौतम-गणधर के आने से दिव्यध्वनि खिरी। और पहले ६६ दिन तक उनके न आने से भगवान की ध्वनि खिरने से रुकी रही। वाणी के परमाणुओं में जिस समय वाणीरूप में परिणमित होने की योग्यता थी उस समय ही वे वाणीरूप में परिणमित हुये, और उस समय वहां गणधरदेव की अवश्य-भावी उपस्थिति थी। गणधर आये इसलिये वाणी छूटी ऐसी बात नहीं है। गणधर जिस समय आये उसी समय उनकी आने की योग्यता थी। ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसलिये इस तर्क को अवकाश ही नहीं है कि यदि गौतम गणधर न आये होते तो वाणी कैसे छूटती?

३६—निमित्त न हो तो ?

'कार्य होना हो और निमित्त न हो तो ...?' ऐसी शंका करने वाले से ज्ञानी पूछते हैं कि 'हे भाई! इस जगत में तू जीव ही न होता तो? अथवा तू अजीव होता तो?' तब शंकाकार उत्तर देता है कि—'मैं जीव ही हूँ, इसलिये दूसरे तर्क को स्थान नहीं है।' तब ज्ञानी कहते हैं कि—जैसे तू स्वभाव से ही जीव है इसलिये उसमें दूसरे तर्क को स्थान नहीं है, इसी प्रकार 'जब उपादान में कार्य होता है तब निमित्त उपस्थित ही है। ऐसा ही उपादान-निमित्त का स्वभाव है, इसलिये उसमें दूसरे तर्क को अव-काश नहीं है।

४०—कमल में विकसित होने की योग्यता हो किन्तु यदि सूर्योदय न हो तो ?

कमल के खिलने और सूर्य के उदय होने में सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु सूर्य का उदय हुआ इसलिये कमल नहीं खिला है, वह तो अपनी उस पर्याय की योग्यता से खिला है।

प्रश्न—यदि सूर्योदय न हो तब तो कमल नहीं खिलेगा?

उत्तर—'कार्य होना हो किन्तु निमित्त न हो तो?' ऐसा ही यह प्रश्न है, इसका समाधान उपरोक्त युक्ति के अनुसार समझ लेना चाहिये। जब कमल मे खिलने की योग्यता होती है तब सूर्य में भी अपने ही कारण से उदित होने की अवश्यभावी योग्यता होती है—ऐसा स्वभाव है। कमल में विकसित होने की योग्यता हो और सूर्य में उदित होने की योग्यता न हो ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। तथापि सूर्य के निमित्त से कमल नहीं खिलता, और कमल खिलना है इसलिये सूर्य उदय होता है—ऐसा भी नहीं है।

४१— जब सूर्योदय होता है तभी कमल खिलता है, इसका क्या कारण है?

प्रश्न—यदि सूर्य के निमित्त से कमल न खिलता हो तो इसका क्या कारण है कि जब सूर्योदय छह बजे होता है तब कमल भी छह बजे खिलता है, और जब सूर्योदय सात बजे होता है तब कमल भी सात बजे खिलता है?

उत्तर—उसी समय कमल में खिलने की योग्यता है, इसलिये वह तभी खिलता है। पहले उसमे अपने मे ही खिलने की योग्यता नहीं थी, और उसकी योग्यता बन्द रहने की ही थी। एक समय में दो विरुद्ध प्रकार की पर्यायों की योग्यता नहीं हो सकती।

४२—यह जैनदर्शन का मूल रहस्य है।

वस्तुस्वभाव स्वतंत्र, निरपेक्ष है, इस स्वभाव को जबतक न जान ले तबतक जीव को पर के अहंकार से सच्ची उदासीनता नहीं होती, वह विकार का स्वामी नहीं मिटता और अपनी पर्याय का स्वामी (आधार) जो आत्म-स्वभाव है उसकी दृष्टि नहीं होती। यह स्वतन्त्रता जैनदर्शन का मूल रहस्य है।

४३—एक परमाणु की स्वतन्त्र शक्ति।

प्रत्येक जीव तथा अजीव द्रव्यों की पर्याय स्वतन्त्रतया अपने से ही होती है। एक परमाणु भी अपनी ही शक्ति से परिणमित होता है, उसमें निमित्त का क्या प्रयोजन है? एक परमाणु पहले समय में काला होता है और दूसरे समय मे सफेद हो जाता है, तथा पहले समय मे एक अंश काला और

दूसरे समय में अनन्तगुना काला हो जाता है। इसमें निमित्त किसे कहोगे? वह तो अपनी योग्यता से परिणमित होता है।

४४—इन्द्रियों और ज्ञान का स्वतंत्र परिणमन, निमित्त-नैमित्तिक संबध का स्वरूप।

यह बात मिथ्या है कि जड इन्द्रियां है इसलिये आत्मा को ज्ञान होता है। आत्मा का त्रिकाल सामान्य ज्ञानस्वभाव अपने कारण से प्रतिसमय परिणमित होता है, और जिस पर्याय मे जैसी योग्यता होती है उतना ही ज्ञान का विकास होता है। पंचेन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञान का विकास है इसलिये पॉच बाह्य इन्द्रियां है—ऐसी बात नहीं है, और पाच इन्द्रिया है इसलिये ज्ञान का विकास है—ऐसा भी नहीं है। ज्ञान की पर्याय में जितनी योग्यता थी उतना विकास हुआ है, और जिन परमाणुओं में इन्द्रियरूप होने की योग्यता थी वे स्वय इन्द्रियरूप में परिणमित हुए है। तथापि दोनो का निमित्त-नैमित्तिक मेल है। जिस जीव के एकेन्द्रिय के ज्ञान का विकास होता है उसके एक ही इन्द्रिय होती है, दो वाले के दो, तीनवाले के तीन, चार वाले के चार और पंचेन्द्रिय के विकास वाले के पाचों ही इन्द्रियाँ होती है। वहाँ दोनो का स्वतंत्र परिणमन है, एक के कारण दूसरे में कुछ नहीं हुआ है, इसी को निमित्त-नैमित्तिक संबंध कहते है।

४५— रागद्वेष का कारण कौन है? सम्यक्दृष्टि के रागद्वेष क्यों होता है?

प्रश्न—यदि कर्म आत्मा को विकार न कराते हों तो आत्मा में विकार होने का कारण कौन है? सम्यक्दृष्टि जीवों के विकार करने की भावना नहीं होती, तथापि उनके भी विकार होता है, इसलिये कर्म विकार कराते है न?

उत्तर—कर्म आत्मा को विकार कराता है यह बात मिथ्या है। आत्मा को अपनी पर्याय के दोष से ही विकार होता है कर्म विकार नहीं कराता, किन्तु आत्मा की पर्याय की वैसी योग्यता है। सम्यक्दृष्टि के रागद्वेष करने की भावना नहीं है तथापि रागद्वेष होता है, इसका कारण चारित्र गुण की

वैसी पर्याय की योग्यता है। रागद्वेष की भावना नहीं है सो तो श्रद्धागुण की पर्याय है और रागद्वेष होता है सो चारित्रगुण की पर्याय है। पुरुषार्थ की अशक्ति से रागद्वेष होता है, यह कहना भी निमित्ताधीन कथन है। वास्तव में तो चारित्र गुण की उस समय की योग्यता के कारण ही रागद्वेष होता है।

४६—सम्यक्-निर्णय का बल।

प्रश्न—जो विकार होता है सो चारित्रगुण की पर्याय की ही योग्यता है, तब फिर जहाँ तक चारित्रगुण की पर्याय में विकार होने की योग्यता हो वहाँ तक विकार होता ही रहे, तो ऐसा होने पर विकार को दूर करना जीव के आधीन कहाँ रहेगा?

उत्तर—प्रत्येक समय की स्वतंत्र योग्यता है, ऐसा निर्णय किस ज्ञान में किया है? त्रिकालस्वभाव की ओर उन्मुख हुए बिना ज्ञान में एक एक समय की पर्याय की स्वतन्त्रता का निर्णय नहीं हो सकता। और जहाँ ज्ञान त्रिकाल-स्वभाव में उन्मुख हुआ वहाँ स्वभाव की प्रतीति के बल से पर्याय में से रागद्वेष होने की योग्यता प्रतिक्षण घटती ही जाती है। जिसने स्वभाव का निर्णय किया उसकी पर्याय में अधिक समय तक रागद्वेष रहे, ऐसी योग्यता कदापि नहीं होती ऐसा ही सम्यक्-निर्णय का बल है।

४७— कार्य में निमित्त कुछ नहीं करता तथापि उसे 'कारण' क्यों कहा गया है?

कार्य के दो कारण कहे गये हैं। इनमें से एक उपादान-कारण है, वही यथार्थ कारण है, दूसरा निमित्त-कारण है, जो कि आरोपित कारण है। उपादान और निमित्त इन दो कारणों के कहने का आशय ऐसा नहीं है कि दोनों एकत्रित होकर कार्य करते हैं। जब उपादान-कारण स्वयं कार्य करता है तब दूसरी वस्तु पर आरोप करके उसे निमित्त-कारण कहा जाता है; किन्तु वास्तव में वह कारण नहीं है।

प्रश्न—जब कि निमित्त वास्तव में कारण नहीं है, तब फिर उसे कारण क्यों कहा है?

उत्तर—जिसे निमित्त कहा जाता है उस पदार्थ में उस प्रकार की (निमित्त-रूप होने की) योग्यता है, इसलिये अन्य पदार्थों से उसे पृथक् पहिचानने के लिये उसे 'निमित्त कारण' की संज्ञा दी गई है। ज्ञान का स्वभाव स्व-पर-प्रकाशक है, इसलिये वह पर को भी जानता है और पर में जो निमित्तपन की योग्यता है उसे भी जानता है।

४८— कर्म के उदय के कारण जीव को विकार नहीं होता।

जब जीव की पर्याय में विकार होता है, तब कर्म निमित्तरूप होता है, किन्तु जीव की पर्याय और कर्म दोनों मिलकर विकार नहीं करते। कर्मोदय के कारण विकार नहीं होता, और विकार किया इसलिये कर्म उदय में आये ऐसा भी नहीं है। तथा जीव विकार न करे तब कर्म खिर जाते हैं उसे निमित्त कहते हैं। किन्तु यह बात ठीक नहीं है कि जीव ने विकार नहीं किया इसलिये कर्म खिर गये है, उन परमाणुओं की योग्यता ही ऐसी थी।

जिस द्रव्य की जिस समय, जिस क्षेत्र में, जिस संयोग में, और जिस प्रकार, जैसी अवस्था होनी हो वैसी उस प्रकार अवश्य होती है, उसमें अन्तर हो ही नहीं सकता,—उस श्रद्धा में तो वीतरागीदृष्टि हो जाती है। स्वभाव की दृढता और स्थिरता की एकता है तथा विकार से उदासीनता और पर से भिन्नता है; उसमें प्रतिसमय भेदविज्ञान का ही कार्य है।

४९—नैमित्तिक की व्याख्या।

प्रश्न—नैमित्तिक का अर्थ व्याकरण के अनुसार तो ऐसा होता है कि जो निमित्त से होता है सो नैमित्तिक है'। और यहाँ तो यह कहा है कि निमित्त से नैमित्तिक में कुछ नहीं होता, इसका क्या कारण है?

उत्तर—जो निमित्त से होता है सो नैमित्तिक है, अर्थात् निमित्त जनक और नैमित्तिक जन्य है,' यह परिभाषा व्यवहार से की गई है। वास्तव में निमित्त से नैमित्तिक नहीं होता, किन्तु उपादान का जो कार्य है सो नैमित्तिक है और जब नैमित्तिक कार्य होता है तब निमित्त होता ही है, इसलिये

उपचार से उस निमित्त को जनक भी कहा जाता है। और नैमित्तिक का अर्थ ऐसा भी होता है कि 'जिसमें निमित्त का सम्बन्ध हो सो नैमित्तिक है'। अर्थात् जब नैमित्तिक होता है तब निमित्त भी अवश्यमेव होता है, इतना सम्बन्ध है; किन्तु यदि निमित्त-नैमित्तिक में कुछ भी करे तो उनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध न रहे, किन्तु कर्ता-कर्म सम्बन्ध हो जाये।

५०—'निमित्त की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, किन्तु निमित्त मिलाना चाहिये' यह मान्यता मिथ्या है।

प्रश्न—किसी के पुत्र होना था किन्तु दस वर्ष तक विषयभोग नहीं किया, अर्थात् पुत्र होने का निमित्त नहीं मिलाया इसलिये पुत्र नहीं हुआ, अत निमित्त मिलाना चाहिये, निमित्त के द्वारा उपादान का कार्य होता है, हमें निमित्त की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। यह बात ठीक है न?

उत्तर—यह बात मिथ्या है। मैं निमित्त मिलाऊँ तो कार्य हो, यह बात ठीक नहीं है। इसमें मात्र निमित्ताधीन दृष्टि है। (पुत्र होने के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है, देखो पैरा ६) निमित्त नहीं था इसलिये कार्य रुक गया और निमित्त मिलाऊँ तो कार्य हो—यह बात त्रिकाल में भी सच नहीं है। किन्तु कार्य होना ही न था इसलिये तब निमित्त नहीं था और जब कार्य होता है तब निमित्त अवश्य होता है। यह अबाधित नियम है। पर निमित्तों को आत्मा प्राप्त कर सकता है, ऐसा मानना सो मिथ्यात्व है।

इस प्रकार आत्मा को अपने कार्य में पर की अपेक्षा नहीं है, तथापि कोई यह माने कि—'हमें निमित्त की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये,' तो वह जीव सदा निमित्त की ओर ही देखा करे अर्थात् उसकी दृष्टि सदा दूसरे पर ही रहा करे और वह पर की उपेक्षा करके स्वभाव का निर्मल कार्य प्रगट नहीं कर सकेगा। निमित्त के मार्ग से उपादान का कार्य कभी नहीं होता, किन्तु उपादान की योग्यता से ही (उपादान के मार्ग से ही) उसका कार्य होता है।

५१—जिनशासन निमित्त की उपेक्षा करने को कहता है।

निमित्त की उपेक्षा न करे अर्थात् परद्रव्य के साथ का सम्बन्ध न तोड़े, यह बात जैनशासन में विरुद्ध है। जैनशासन का प्रयोजन दूसरे के साथ सम्बन्ध कराना नहीं, किन्तु दूसरे के साथ का सम्बन्ध छुड़ाकर वीतरागभाव कराना है। समस्त सत्शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागभाव है और वह वीतराग-भाव स्वभाव के लक्ष द्वारा समस्त परपदार्थों से उदासीनता होने पर ही होता है। किसी भी परलक्ष में रुकना सो शास्त्र का प्रयोजन नहीं है, क्योंकि पर के लक्ष से राग होता है। निमित्त भी परद्रव्य ही है, इसलिये निमित्त की अपेक्षा छोड़कर अर्थात् उसकी उपेक्षा करके अपने स्वभाव की अपेक्षा करना ही प्रयोजन है। 'निमित्त की उपेक्षा करने योग्य नहीं है, अर्थात् निमित्त का लक्ष छोड़ने योग्य नहीं है', ऐसा अभिप्राय मिथ्यात्व है, और उस मिथ्या अभिप्राय को छोड़ने के बाद भी अस्थिरता के कारण जो निमित्तपर लक्ष जाता है सो राग का कारण है। इसलिये अपने स्वभाव के आश्रय में निमित्त इत्यादि परद्रव्यों की उपेक्षा करना सो यथार्थ है।

५२—मुमुक्षु जीवों को यह बात समझनी चाहिये।

उपादान-निमित्त सम्बन्धी यह बात विशेष प्रयोजनभूत है। इसे समझे बिना जीव की दो द्रव्यों में एकता की बुद्धि कदापि दूर नहीं हो सकती, और स्वभाव की श्रद्धा नहीं हो सकती। स्वभाव की श्रद्धा हुए बिना स्वभाव में अभेदता नहीं होती, अर्थात् जीव का कल्याण नहीं होता। ऐसा ही वस्तु-स्वभाव केवलज्ञानियों ने देखा है और संत मुनियों ने कहा है। यदि जीव को कल्याण करना हो तो उसे समझना होगा।

५३—समर्थ कारण की व्याख्या।

प्रश्न—समर्थ कारण किसे कहते हैं?

उत्तर—जब उपादान में कार्य होता है, तब उपादान और निमित्त दोनों एक साथ होते हैं, इसलिये उन दोनों को एक ही साथ समर्थ कारण कहा जाता है, और वहाँ प्रतिपक्षी कारणों का अभाव अवश्य होता है। इससे

यह नहीं समझना चाहिये कि—उपादान के कार्य में निमित्त कुछ करता है। जब उपादान की योग्यता होती है तब निमित्त अवश्य होता है।

प्रश्न—समर्थ कारण द्रव्य है, गुण है, या पर्याय?

उत्तर—वर्तमान पर्याय ही समर्थ कारण है। पूर्व पर्याय को वर्तमान पर्याय का उपादान कारण कहना भी व्यवहार है। निश्चय से तो वर्तमान पर्याय स्वयं ही कारण–कार्य है। और इससे भी आगे बढ़कर कहें, तो एक पदार्थ में कारण और कार्य ऐसे दो भेद करना भी व्यवहार है। वास्तव में तो प्रत्येक समय की पर्याय अहेतुक है।

५४—उपादान कारण की परिभाषा।

प्रश्न—मिट्टी को घड़े का उपादान कारण कहा जाता है, सो क्या ठीक है?

उत्तर—वास्तव में घड़े का उपादान कारण मिट्टी नहीं है, किन्तु जिस समय घड़ा बनता है उस समय की अवस्था ही स्वयं उपादान कारण है। ऐसा होने पर भी मिट्टी को घड़े का उपादान कारण कहने का हेतु यह बताना है कि—घड़ा बनने के लिये मिट्टी में जैसी सामान्य योग्यता है वैसी योग्यता अन्य पदार्थों में नहीं है। मिट्टी में घड़ा बनने की विशेष योग्यता तो जिस समय घड़ा बनता है उसी समय है, उससे पूर्व उसमें घड़ा बनने की विशेष योग्यता नहीं है, इसलिये विशेष योग्यता ही सच्चा उपादान कारण है। इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये उसे जीव में लागू करते हैं —

सम्यक्दर्शन प्रगट होने की सामान्य योग्यता तो प्रत्येक जीव में है, जीव के अतिरिक्त अन्य किसी में वैसी सामान्य योग्यता नहीं है। सम्यक्दर्शन की सामान्य योग्यता (शक्ति) समस्त जीवों में है, किन्तु विशेष योग्यता भव्यजीवों में ही होती है। अभव्यजीव के तथा भव्यजीव जब तक मिथ्यादृष्टि रहता है तब तक उसके भी सम्यक्दर्शन की विशेष योग्यता नहीं होती। विशेष योग्यता तो उसी समय होती है जिस समय जीव

पुरुषार्थ से सम्यक्दर्शन प्रगट करता है। सामान्य योग्यता द्रव्यरूप है और विशेष योग्यता प्रगटरूप है, सामान्य योग्यता कार्य के प्रगट होने का उपादान कारण नहीं, किन्तु विशेष योग्यता ही उपादान कारण है।

५५—चारित्र दशा और वस्त्र सम्बन्धी स्पष्टीकरण।

प्रश्न—'चारित्र दशा प्रगट होती है इसलिये वस्त्र नहीं छूट जाते, किन्तु वस्त्र के परमाणुओं की योग्यता से ही वे छूटते हैं' ऐसा कहा है; किन्तु किसी जीव के चारित्र दशा प्रगट होती हो और वस्त्र में छूटने की योग्यता न हो तो सवस्त्र मुक्ति हो जायेगी ?

उत्तर—वहाँ सवस्त्र मुक्ति होने की बात नहीं है। चारित्र दशा का स्वरूप ही ऐसा है कि वहाँ वस्त्र के साथ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होता ही नहीं। इसलिये चारित्र दशा में सहज ही वस्त्र त्याग होता है। वस्त्र का त्याग उस परमाणु की अवस्था की योग्यता है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है।

प्रश्न—यदि किसी मुनिराज के शरीर पर कोई व्यक्ति वस्त्र डाल जाये तो उस समय उनके चारित्र का क्या होगा ?

उत्तर—किसी दूसरे जीव के द्वारा वस्त्र डाल देने से मुनि के चारित्र में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि उस वस्त्र के साथ उनके चारित्र का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है, किन्तु वहाँ तो वस्त्र ज्ञान का ज्ञेय अर्थात् ज्ञेय–ज्ञायकपन का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है।

५६—सम्यक नियतिवाद क्या है ?

वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध जिस समय जो होनी हो सो वही होती है–ऐसा सम्यक् नियतिवाद जैनदर्शन का वास्तविक स्वभाव है–यही वस्तुस्वभाव है। 'नियत' शब्द शास्त्रों में अनेक जगह आता है, किन्तु इस समय तो शास्त्रों को पढ़े हुये लोग भी सम्यक् नियतिवाद की बात सुनकर गोते खाने लगते हैं। इसका निर्णय करना कठिन है, इसलिये कोई 'एकान्तवाद' कहकर उड़ाना चाहते हैं। नियत का अर्थ है निश्चित–नियमबद्ध, वह एकान्तवाद

नहीं किन्तु वस्तु का यथार्थ स्वभाव है,—यही अनेकान्तवाद है। सम्यक् नियतवाद का निर्णय करते समय बाह्य में राजपाट का संयोग हो तो वह छूट ही जाना चाहिये—ऐसा नियम नहीं है, किन्तु उसके प्रति यथार्थ उदास-भाव अवश्य हो जाता है। बाह्य संयोग में अतर पड़े या न पड़े किन्तु अन्तर के निर्णय में फर्क हो जाता है। अज्ञानी जीव नियतिवाद की बातें करता है, किन्तु ज्ञान और पुरुषार्थ को स्वभावोन्मुख करके निर्णय नहीं करता। नियति-वाद का निर्णय करने में जो ज्ञान और पुरुषार्थ आता है उसे यदि जीव पहचाने तो स्वभावाश्रित वीतरागभाव प्रगट हो और पर से उदास हो जाये, क्यों कि सम्यक् नियतिवाद का निर्णय किया कि स्वय सबका मात्र ज्ञान-भाव से ज्ञाता-दृष्टा रह गया, और पर का या राग का कर्ता नहीं हुआ।

स्वचतुष्टय में परचतुष्टय की नास्ति ही है तो फिर उसमें पर क्या करे? जब उपादान-निमित्त का यथार्थ निर्णय हो जाता है तब कर्तृत्व भाव उड जाता है, और वीतरागदृष्टि पूर्वक वीतरागी स्थिरता का प्रारम्भ हो जाता है। अज्ञानीजन इस नियतिवाद को एकान्तवाद और गृहीतमिथ्यात्व कहते हैं, किन्तु ज्ञानीजन कहते हैं कि यह सम्यक नियतिवाद ही अनेकांतवाद है, और उसके निर्णय में जैनदर्शन का सार आजाता है। तथा वह केवलज्ञान का कारण है।

५७—कुछ अकस्मात् है ? ! नहीं।

प्रश्न—सम्यक्दृष्टि के अकस्मात् भय नहीं होता इसका क्या कारण है?

उत्तर—सम्यक्दृष्टि को यथार्थ नियतिवाद् का निर्णय है कि जगत के समस्त पदार्थों की अवस्था उनकी योग्यतानुसार ही होती है। जो न होना हो ऐसा कुछ नवीन होता ही नहीं, इसलिये कुछ अकस्मात् है ही नहीं। ऐसी निःशंक श्रद्धा के कारण सम्यक्दृष्टि को अकस्मात् भय नहीं होता। वस्तु की पर्याय क्रमशः ही होती है, अज्ञानी को इसकी प्रतीति नहीं है इसलिये उसे अकस्मात् ही मालूम होता है।

५८—निमित्त किसका ? और कब ?

यदि निमित्त के यथार्थ स्वरूप को समझे तो यह मान्यता दूर हो जाये कि निमित्त उपादान में कुछ करता है। क्योंकि जब कार्य हुआ तब तो पर को उसका निमित्त कहा गया है, कार्य होने से पूर्व किसी को उसका निमित्त नहीं कहा जाता,–जो कार्य हो चुका है उसमें निमित्त क्या करेगा? और कार्य होने से पूर्व निमित्त किसका? कुम्हार किसका निमित्त है? यदि घडारूपी कार्य हो तो कुम्हार उसका निमित्त हो, और यदि घडारूपी कार्य ही न हो तो कुम्हार उसका निमित्त नहीं है। घडा बनने से पूर्व किसी को 'घड़े का निमित्त' कहा ही नहीं जा सकता। और यदि जब घडा बनता है तभी कुम्हार को निमित्त कहा जाता है, तो फिर कुम्हार ने घड़े में कुछ भी किया है यह बात स्वयमेव असत्य सिद्ध हो जाती है।

प्रश्न—उपादान में कार्य न हो तो परद्रव्य को निमित्त नहीं कहा जाता, यह बात ऊपर कही गई है; परन्तु 'इस जीव को अनन्तबार धर्म का निमित्त मिला तथापि जीव स्वयं धर्म को नहीं समझ पाया' ऐसा कहा जाता है, और उसमें जीव के धर्मरूपी कार्य नहीं हुआ तथापि परद्रव्यों को धर्म में निमित्त तो कहा है?

उत्तर—'इस जीव को अनन्तबार धर्म का निमित्त मिला किन्तु यह स्वयं धर्म को नहीं समझा' ऐसा कहा जाता है। यहां यद्यपि उपादान में (जीव में) धर्मरूपी कार्य नहीं हुआ इसलिये वास्तव में उसके लिये वे पदार्थ धर्म के निमित्त नहीं है। परन्तु जो जीव धर्म प्रगट करते हैं उन जीवों को इस प्रकार के निमित्त ही होते है, ऐसा ज्ञान कराने के लिये कार्य न होने पर भी स्थूलदृष्टि से उसे निमित्त कहा जाता है।

५९—अनुकूल निमित्त।

खौलते हुऐ तेल में हाथ जल गया, वहां हाथ के जलने में खौलता हुआ तेल अनुकूल निमित्त है। घड़े के फूटने मे ठोकर लग जाना अनु-

कूल निमित्त है। अमुक पदार्थों को अनुकूल निमित्त कहा है। इसलिये यह नहीं समझना चाहिये कि उसके अतिरिक्त अन्य पदार्थ प्रतिकूल हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के लिये अनुकूल या प्रतिकूल है ही नहीं। ।निमित्त को अनुकूल कहने का अर्थ इतना ही है कि वह पदार्थ कार्य के होते समय सद्भावरूप होता है और व्यवहारदृष्टि से उसपर अनुकूलता का आरोप आ सकता है।

६०—दो पर्यायों की योग्यता एक साथ नहीं होती।

एक समय में दो योग्यतायें कदापि नहीं होतीं। क्योंकि जिस समय जैसी योग्यता है वैसी पर्याय प्रगट होती है, और उसी समय यदि दूसरी योग्यता भी हो तो एक ही साथ दो पर्यायें हो जायें। परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। जिस समय जो पर्याय प्रगट होती है, उस समय दूसरी पर्याय की योग्यता नहीं होती। आटारूप पर्याय की योग्यता के समय रोटीरूप पर्याय की योग्यता नहीं होती। तब फिर इस बात को अवकाश ही कहां है कि निमित्त नहीं मिला इसलिये रोटी नहीं बनी? और जब रोटी बनती है तब उससे पूर्व की आटारूप पर्याय का अभाव करके ही बनती है, तब फिर दूसरे को उसका कारण कैसे कहा जा सकता है? हाँ जो आटारूप पर्याय का व्यय हुआ सो उसे रोटीरूप पर्याय का कारण कहा जा सकता है।

६१—'जीव पराधीन है' इसका क्या अर्थ है?

प्रश्न—समयसार नाटक में स्याद्वाद अधिकार के ६ वें श्लोक में जीव को पराधीन कहा है। शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! जीव पराधीन है कि स्वाधीन? तब श्रीगुरु उत्तर देते हैं कि–द्रव्यदृष्टि से जीव स्वाधीन है, और पर्यायदृष्टि से पराधीन है–तब फिर वहाँ जीव को पराधीन क्यों कहा है?

उत्तर—पर्यायदृष्टि से जीव पराधीन है, अर्थात् जीव स्वयं अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर परलक्ष द्वारा स्वयं स्वतन्त्ररूप से पराधीन होता है, परन्तु परद्रव्य जीव पर बरजोरी करके उसे पराधीन नहीं करते।

पराधीन अर्थात् स्वयं स्वतंत्ररूप से पर के आधीन होता है—पराधीनता मानता है, न कि पर पदार्थ उसको आधीन करते हैं।

६२—द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का क्रम।

प्रश्न—यह उपादान-निमित्त की बात तो द्रव्यानुयोग की है। परन्तु पहले तो जीव चरणानुयोग के अनुसार श्रद्धानी हो और उस चरणानुयोग के अनुसार व्रत-प्रतिमा इत्यादि को अंगीकार करे, और फिर उस द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धानी होकर सम्यग्दर्शन प्रगट करे—ऐसी जैनधर्म की परिपाटी होने के सम्बन्ध में कितने ही जीव मानते हैं; क्या यह ठीक है?

उत्तर—नहीं, जैनमत की ऐसी परिपाटी नहीं है। परन्तु जैनमत में ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व हो और फिर व्रत हो। सम्यक्त्व स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है। इसलिये पहले द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो और फिर चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक करके व्रती होता है। इस प्रकार मुख्यतया तो निम्नदशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है, तथा गौणरूप से जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती न मालूम हो उसे पहले किसी व्रतादि का उपदेश दिया जाता है; इसलिये समस्त जीवों को मुख्यतया द्रव्यानुयोग के अनुसार आध्यात्मिक उपदेश का अभ्यास करना चाहिये। यह जानकर निम्नदशा वालों को भी द्रव्यानुयोग के अभ्यास से पराङ्मुख होना योग्य नहीं है।
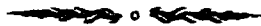
क्रिया

क्रिया की सामान्य परिभाषा।

पर्याय का परिवर्तन होना सो क्रिया है प्रत्येक द्रव्य की पर्याय समय-समय पर बदलती ही रहती है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय ही उसकी क्रिया है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपने में ही होती है, एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य में नहीं होती, इसलिये एक द्रव्य की क्रिया भी दूसरे द्रव्य मे नही होती, तथा एक द्रव्य की क्रिया भी दूसरा द्रव्य नहीं करता।

क्रिया के प्रकार।

इस ससार में जड और चेतन दो प्रकार के द्रव्य हैं। द्रव्य की पर्याय ही क्रिया है, इसलिये क्रिया भी जड और चेतन दो प्रकार की है। जड़द्रव्य की अवस्था जड की क्रिया है, और चेतनद्रव्य की (जीव की) अवस्था सो चेतन की क्रिया है, अर्थात् जीव की क्रिया है।

जीव की क्रिया दो प्रकार की है—रागादिभावरूप विकारी क्रिया और रागादिभाव रहित सम्यक्दर्शन, ज्ञान-चारित्ररूप अविकारी क्रिया। विकारी क्रिया बंध का कारण है इसलिये उसे बन्ध की क्रिया भी कहते हैं, और अविकारी क्रिया मोक्ष का कारण है इसलिये उसे मोक्ष की क्रिया कहते हैं।

इस भांति कुल तीन प्रकार की क्रियाएं हुई—(१) जड की क्रिया, (२) जीव की विकारी क्रिया, (३) जीव की अविकारी क्रिया।

जड की क्रिया।

शरीर जड़ है, इसलिये उसकी प्रत्येक क्रिया जड की क्रिया है। शरीर का हिलना–डुलना या स्थिर रहना जड की क्रिया है, उसके कर्ता जड परमाणु हैं, आत्मा उसका कर्ता नहीं है, जड की क्रिया के साथ बन्ध अथवा मोक्ष का सम्बन्ध नहीं है। शरीर की हलन–चलनरूप अवस्था में अथवा स्थिरता रूप अवस्था में बन्ध या मोक्ष की क्रिया नहीं है, अर्थात् शरीर की किसी भी क्रिया से आत्मा को बन्ध या मोक्ष, लाभ या हानि अथवा सुख-दुःख नहीं होता, क्योंकि शरीर की क्रिया जड की क्रिया है।

पहले शरीर की अवस्था घर में रहने की होती है और उसमें हलन–चलन होता है, फिर शरीर की अवस्था बदलकर वहां से धर्मस्थान में जाकर स्थिर होता है। इस परिवर्तन से अज्ञानी जीव धर्म मानता है। परन्तु जड की क्रिया बदल जाने से आत्मा के धर्म, पुण्य या पाप नहीं होता। शरीर की भांति ही, रुपया, पैसा, वस्त्र, आहारादि का संयोग–वियोग भी जड की क्रिया है, उससे धर्म अथवा पुण्य-पाप नहीं होता। इनमें से किसी भी क्रिया का कर्ता आत्मा नहीं है।

विकारी क्रिया।

जीव की पर्याय में जो रागद्वेष–अज्ञानरूप भाव होते हैं वह जीव की विकारी क्रिया है, इस क्रिया को बंध की क्रिया कहते हैं। शरीरादि जड़ की क्रिया से विकारी क्रिया नहीं होती, और जीव की विकारी क्रिया से शरीरादि जड की क्रिया नहीं होती। रागद्वेष–अज्ञानरूप भाव आत्मा की पर्याय में होते हैं, इसलिये आत्मा की पर्याय में ही वह विकारी क्रिया करने की योग्यता है। शरीर की क्रिया से पुण्य–पाप नहीं होते। पुण्य–पापरूप विकारी क्रिया बन्धन की क्रिया है, उस क्रिया के द्वारा संसार मिलता है, मोक्ष दूर होता है, और आत्मा के गुणों की पर्याय नष्ट होती है। इस क्रिया से धर्म नहीं होता।

प्रश्न —जड़ की क्रिया करने पर ही तो धर्म होता है ? जैसे पहले शरीर को घर से धर्मस्थान तक ले जाये, धर्म सुने, और फिर यथार्थ समझ से धर्म होता है, इस प्रकार जड़ की क्रिया करने की बात हुई या नहीं ?

उत्तर —जड की क्रिया द्वारा धर्म नहीं होता । जड की क्रिया आत्मा करता ही नहीं, इसलिये उस क्रिया के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं है । उपरोक्त दृष्टान्त में शरीर की क्रिया बदलने से धर्म नहीं हुआ, किन्तु 'तत्व समझने को जाना है' ऐसा जो शुभभाव हुआ, और घर से धर्मस्थान पर गया, वहाँ निम्नप्रकार की क्रियाएँ हुई —

(१) शुभभाव हुआ सो पुण्य है, वह विकारी क्रिया है। (२) शरीर का क्षेत्रपरिवर्तन हुआ सो जड की क्रिया है । (३) आत्मप्रदेशों का क्षेत्रपरिवर्तन हुआ सो आत्मा की विकारी क्रिया है। (४) सत् सुनने के प्रति लक्ष हुआ सो वह शुभभावरूप विकारी क्रिया है । यह चार क्रियायें हुई तबतक धर्म नहीं हुआ। धर्म सुनने के लक्ष मे भी हटकर, स्वलक्ष की ओर उन्मुख हो और अपने शुद्ध आत्मस्वभाव का महिमा पूर्वक निर्णय करे तो वह अविकारी क्रिया है, और वही धर्म है। जड की क्रिया, आत्मप्रदेशों की क्षेत्रपरिवर्तनरूप क्रिया, और शुभरागरूप विकारी क्रिया से धर्म क्रिया भिन्न है ।

इसी प्रकार किसी जीव के, रुपया-पैसा कमाने इत्यादि की अशुभ भावना हुई, और शरीर की क्रिया पापकार्यों में हुई, तो वहाँ भी शरीर की क्रिया, जड़ की स्वतंत्र क्रिया है, उसमे जीव को लाभ-हानि नहीं होती । और जो अशुभभाव हुए, वह जीव की विकारी क्रिया है, उससे जीव को हानि होती है। अशुभ भावों के कारण भी शरीर की क्रिया नहीं होती ।

अशुभ परिणाम से पाप, और शुभ परिणाम से पुण्य का समावेश विकारी क्रिया में होता है, और दोनों समय होने वाली शरीर की क्रिया वह स्वतन्त्र जड़ की क्रिया है । मेरे परिणामों के कारण जड़ की क्रिया हुई है ऐसा, माने तो मिथ्या है, और पुण्य परिणामो के कारण धर्म की क्रिया हुई है, ऐसा माने तो भी मिथ्या है ।

धर्मस्थान में शरीर दो घड़ी स्थिर होकर बैठा सो वह जड़ की क्रिया है। यदि उस समय शुभ परिणाम हो तो वह पुण्य है, और यदि धर्मस्थान में बैठकर भी घर इत्यादि के अशुभ विचार करता हो, तो पाप है। पुण्य और पाप दोनों विकार हैं, उनसे धर्म नहीं होता, यदि ऐसी आत्मप्रतीति उस समय विद्यमान हो तो वह उतने अंश में अविकारी धर्मक्रिया है, वह मोक्ष की उत्पादक क्रिया है। और पुण्य-पाप दोनों बन्ध की क्रिया है, जो कि संसार की उत्पादक क्रिया है। किसी जीव ने अशुभ परिणाम छोड़ दिये और जिनेन्द्रदेव, निर्ग्रन्थगुरु एवं सत्शास्त्र के लक्ष से शुभराग किया तथा उसमें धर्म माना तो वह जीव एकान्त बन्धन की क्रिया ही कर रहा है, उसके अधर्म क्रिया ही विद्यमान है,-फिर भले ही वह चल रहा हो, स्थिर हो, त्यागी हो या गृहस्थ हो, अथवा खा रहा हो या उपवासी हो।

अविकारी क्रिया।

अविकारी क्रिया का अर्थ है धर्म की क्रिया अथवा मुक्ति की क्रिया। लोग कहते हैं कि क्रिया से धर्म होता है, किन्तु वह किसकी और कैसी क्रिया है? वह जड़ की क्रिया है या चेतन की विकारी क्रिया है या अविकारी? जिसे जड़, विकारी और अविकारी क्रिया के स्वरूप की ही खबर नहीं है, वह धर्म की क्रिया कहां से करेगा?

मुक्ति की क्रिया में पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, और पर की ओर के झुकाव से जो भाव होता है, उसके साथ भी सम्बन्ध नहीं है। मुक्ति की क्रिया में परपदार्थ पर या विकार पर दृष्टि नहीं होती, किन्तु पर से और विकार से भिन्न अपने असंयोगी अविकारी, त्रिकाल स्वभाव पर दृष्टि होती है। विकारी क्रिया भी आत्मा की वर्तमान दशा है, और अविकारी क्रिया भी आत्मा की वर्तमान दशा है। आत्मा की जो वर्तमान दशा स्वभाव के साथ का एकत्व छोड़कर परलक्ष में और पुण्य-पाप में अटक जाती है, वही विकारी क्रिया है, संसार है, मोक्ष की घातक है, सुख को दूर करने वाली और दुःख को देने वाली है। तथा आत्मा की जो वर्तमान दशा परलक्ष

से हटकर स्वलक्ष में अपने त्रैकालिक स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता में टिकी हुई है, वही अविकारी क्रिया है, धर्म है, मोक्ष की उत्पादक है, ससार की घातक है, सुख देने वाली और दुःख दूर करने वाली है।

विकारी क्रिया या अविकारी क्रिया दोनों एक समय मात्र की जीव की अवस्था है, किन्तु उन दोनों के लक्ष में अन्तर है। अविकारी क्रिया का लक्ष त्रिकाली शुद्ध स्वस्वभाव है, और विकारी क्रिया का लक्ष परद्रव्य तथा पुण्य-पाप है। जड़ का कार्य करने की बात दो में से एक भी क्रिया में नहीं है; जड़ की क्रिया इन दोनों से अलग स्वतंत्र है, उससे न तो बन्ध होता है, और न मुक्ति।

मोक्ष किसके लक्ष से होता है? तीन प्रकार की क्रियाओं में से किस क्रिया से मोक्ष होता है? जड़ के लक्ष से मोक्ष होता है या पुण्य-पाप के लक्ष से? आत्मा में परद्रव्य का त्याग या ग्रहण नहीं होता, इसलिये उस के लक्ष से मोक्ष नहीं होता। जो पुण्य-पाप होते हैं सो भी परलक्ष से होते हैं इसलिये विकार है, उनके लक्ष से मोक्ष नहीं होता। अर्थात् जड़ की क्रिया से और विकारी क्रिया से मोक्ष नहीं होता। जड़ की क्रिया का बाह्य सयोग होने पर भी, और पर्याय में क्षणिक रागद्वेष होने पर भी मैं इस जड़ से भिन्न हूं, और मेरे शुद्ध ज्ञानभाव में रागद्वेष नहीं हैं, ऐसा भेद-ज्ञान हो सो प्रारम्भ की धर्म की क्रिया है, पश्चात् शुद्ध ज्ञाताभाव में स्थिरता करने पर रागद्वेष दूर होते जाते हैं। इस प्रकार धर्म की क्रिया के बल से विकार की क्रिया का नाश होता है।

(१) पेट में अन्न जाये या न जाये, वह जड़ की क्रिया है, उसमे न तो पुण्य-पाप है और न धर्म ही। (२) पेट मे अन्न नही गया, इसलिये उस समय (उपवास में) जीव को उपेक्षा मालूम हो कि उपवास तो भले किया किन्तु कल जैसा आज आनन्द नहीं आया, तो उसके यह अशुभ परिणाम है। जिनमे पाप बन्ध होता है। (३) यदि उस समय मन्द कषाय रखे तो शुभ परिणाम होते हैं जिनसे पुण्य-बंध होता है। (४) उस समय

आहार, शरीर और पुण्य–पाप का लक्ष छोडकर अपने त्रैकालिक आत्मस्वभाव को पहिचानकर उसमें स्थिर हुआ–अनुभव में एकाग्र हुआ सो धर्म है।

इनमें से पहली जड की क्रिया है, दूसरी और तीसरी विकार की क्रिया है, और चौथी धर्म की क्रिया अथवा अविकारी क्रिया है।

शरीर स्थिर रहे सो जड की क्रिया है और उस जड की क्रिया से जो आत्मा का अनुभव करता है, वह अज्ञानी है। जड–शरीर की क्रिया स्थिर रहने के रूप में हो गई, परन्तु उस समय आत्मा की क्रिया किस प्रकार की हो रही है, इसे जाने बिना धर्म का माप कहाँ से निकालेगा ? धर्म की क्रिया शरीर में होती है या आत्मा में ? जिसकी भूमिका में धर्म की क्रिया होती है, ऐसे आत्मस्वभाव की जिसे खबर नहीं है, वह धर्म की क्रिया कहाँ करेगा ? इसलिये सर्वप्रथम आत्मस्वरूप को समझना चाहिये। यही प्रारम्भिक धर्म की क्रिया है, इसके अतिरिक्त धर्म की कोई दूसरी क्रिया नहीं है।

व्यवहारनय के पक्ष के सूक्ष्म आशय का स्वरूप और उसे दूर करने का उपाय

अनन्त प्राणियों को अनन्तकाल से अपने निश्चयस्वभाव की महिमा ज्ञात न होने से राग और विकल्प का सूक्ष्मपक्ष रह जाता है, उस व्यवहार के सूक्ष्मपक्ष का स्वरूप यहाँ बताया जाता है।

जीव को ज्ञान में परवस्तु, विकल्प तथा आत्मा का स्वभाव भी ज्ञात होता है। उसके ध्यान में यह आता है कि आत्मवस्तु, राग अथवा परवस्तु जैसी नहीं है, यह ध्यान में आने पर भी यदि राग में आत्मा का वीर्य रुक जाय तो व्यवहार का पक्ष रह जाता है। आत्मा के वीर्य को पर की ओर के झुकाव से पृथक् करके शुभराग का जो लक्ष होता है, उस पर भी लक्ष न देकर स्वभाव के ज्ञान से वीर्य को उस शुभभाव में न लगाकर यदि शुभ से भी भिन्न आत्मस्वभाव की ओर प्रवृत्त करे तो समझना चाहिए कि जीव ने निश्चय के आश्रय से व्यवहार का निषेध किया है

आत्मा वर्तमान में ही ज्ञानादि अनन्त स्वभाव–गुण का पिंड है, उसकी अवस्था में जो वर्तमान अशुभ अवस्था होती है, उसे छोड़ने को जीव का मन होता है, क्योंकि उसमें अशुभ से शुभ में वीर्य को युक्त करना वर्तमान मात्र के लिये ही वीर्य का कार्य है। नग्नदिगम्बर जैन साधु होकर पंच–

महाव्रत का शुभराग तथा देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा करके उनकी कही हुई बात ध्यान में लाने पर भी सम्यग्दर्शन का अभाव होने से जीव के सूक्ष्म-रूप में व्यवहार की पकड़ रह जाती है ।

ज्ञान में शुभ और अशुभ दोनों का ध्यान करके जीव वीर्य को अशुभ में से शुभ में बदल देता है, परन्तु वह वर्तमान मात्र के शुभराग मे वीर्य का जो भार है उसे लेकर यदि स्वभाव की ओर डाल दे तो व्यवहार का पक्ष छूट जाय । आत्मा के स्वभाव में विकार नहीं है, विकार क्षणिक है और पर पदार्थ भिन्न हैं – यह ध्यान में लिया अर्थात् १—शरीर इत्यादि परवस्तु मै नहीं हूँ, यह ज्ञान में धारण कर लिया । २—कर्म जड है वह आत्मा से भिन्न है यह शास्त्र से समझा और जो ३—अशुभ भाव होता है उसे अवस्था के लक्ष में रह रहकर बदला—अवस्थादृष्टि मे ही रह रहकर अवस्था में अशुभ को बदल कर शुभ किया । शुभभाव, अशुभभाव और शुभा-शुभ रहित आत्मस्वभाव को ध्यान में लिया तथा जो अशुभ होता है उसे आत्मवीर्य के द्वारा छोड़कर शुभ किया, किन्तु स्वभाव की ओर पुरुषार्थ का बल अटक रहा, इसलिये निश्चय का आश्रय नहीं हुआ और न व्यवहार का पक्ष ही गया ।

जीव को ज्ञान में पर वस्तुयें, शुभ तथा अशुभ किसे कहा जाय यह, और शुभाशुभ से रहित स्वभाव ध्यान में आने पर भी उस शुभ की ओर से वीर्य का बल छूटकर स्वभाव के बल की ओर न जाय तो उस जीव के निश्चय का विषय जो स्वभाव है वह रुचिकर नहीं हुआ अर्थात उसका वीर्य स्वभाव की ओर नहीं जाता, प्रत्युत व्यवहार में ही अटका रहता है ।

अशुभ से शुभभाव करने में वीर्य वर्तमान मात्र के लिए ही है और शुभाशुभ रहित स्वभाव की रुचि के वीर्य का त्रैकालिक बल है । स्वभाव की रुचि का त्रैकालिक बल में शुभ के झुकाव में से वीर्य पृथक होकर जब स्वभाव की महिमा में उसका बल आता है तब त्रैकालिक की दृष्टि से सहज ही वर्तमान मात्र के लिए व्यवहार का निषेध हो जाता है, उसके ऐसा

विकल्प नहीं होता कि निषेध करूँ । इस प्रकार निश्चयनय, व्यवहारनय का निषेध करता है।

जानने में 'राग मेरा स्वरूप नहीं है,' इस प्रकार व्यवहार का जो निषेध है सो भी राग है । मैं जीव हूं – विकार मेरा स्वरूप नहीं है, इस प्रकार नव तत्त्वादिक के विचार के वर्तमान मात्र के भावों पर जो वीर्य का बल आ सकता है, परन्तु स्वभाव से, परान्मुख झुकाव से छूटकर अन्तर स्वभाव में झुकने के लिये वीर्य की उन्मुखता काम न करे तो कहना होगा कि वह व्यवहार की रुचि में जमा हुआ है, किन्तु उसका झुकाव निश्चय-स्वभाव की ओर नहीं है। जिस वीर्य का झुकाव निश्चय स्वभाव की ओर ढलता है उस वीर्य में वर्तमान का झुकाव (व्यवहार का पक्ष) अवश्य छूट जाता है, इसलिए अनन्त तीर्थंकरों ने निश्चय के द्वारा व्यवहार का निषेध किया है ।

अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव यदि बहुत करे तो अशुभ को छोड़-कर वैराग्य तक आता है, इस वैराग्य का शुभभाव भी वर्तमान मात्र के लिये है, वहाँ वर्तमान पर ज्ञान का लक्ष स्थिर हुआ है, वहाँ से छोड़कर त्रिकाली स्वभाव पर ज्ञान का लक्ष स्थिर कर रखूँ, इस प्रकार स्वभाव की ओर वीर्य का बल जबतक न हो तबतक निश्चय का आश्रय नहीं होता और निश्चय के आश्रय के बिना व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता ।

व्यवहार का आश्रय तो वह अभव्य जीव भी करता है जिसकी कभी मुक्ति नहीं होगी । इसलिये निश्चय के आश्रय से ही मुक्ति होती है। अत निश्चयनय से व्यवहारनय निषेध करने योग्य ही है ।

सच्चे देव, गुरु, शास्त्र क्या कहते हैं ? इसका विचार ज्ञान में आता है, तथा पंच महाव्रतादि के विकल्परूप जो व्यवहार उठता है उसे भी ज्ञान जानता है–किन्तु उस रागरूप व्यवहार से निश्चय स्वभाव की अधिकता (पृथक्त्व) जबतक दृष्टि में नहीं बैठती तबतक निश्चय स्वभाव में वीर्य का बल स्थिर नहीं होता और निश्चय स्वभाव के आश्रय के बिना निश्चय

सम्यक्त्व नहीं होता। निश्चय सम्यक्त्व के बिना व्यवहार का निषेध नहीं होता। इस प्रकार जीव के व्यवहार का सूक्ष्म पक्ष रह जाता है।

'राग वर्तमानमात्र के लिए विकार है, प्रत्येक अवस्था में वह राग बदलता जाता है, और उस विकार के पीछे निर्विकार स्वभाव को धारण करने वाला द्रव्य ध्रुव है,' इस प्रकार विकल्प के द्वारा जीव के ध्यान में आता है, किन्तु जबतक त्रैकालिक स्वभाव में वीर्य को लगाकर अरागी निश्चय स्वभाव का बल नहीं आता तबतक व्यवहार का निषेध नहीं होता, और व्यवहार के निषेध के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

अज्ञानी के व्यवहारनय के पक्ष का सूक्ष्म अभिप्राय रह जाता है, वह केवलिगम्य है, छद्मस्थ के वह कदाचित् दृष्टिगोचर नहीं होता। वह अभिप्राय कैसे रह जाता है, इस सम्बन्ध में यहाँ कथन चल रहा है।

आत्मा सर्वथा ज्ञानस्वभावी, अकेला, ज्ञायक, शान्तस्वरूपी है;—ऐसे स्वभाव के जानते हुए भी, और राग का ध्यान आते हुए भी स्वभाव की ओर वीर्य ढलकर अन्तरंग में वह बात नहीं बैठती, इसलिये वीर्य बाहर अटक जाता है। यदि स्वभाव में यह बात जम जाय कि बहिर्मुख भाव के बराबर मैं नहीं हूं, तो उसका वीर्य अधिक होकर निश्चय में ढल जाता है, और निश्चय में वीर्य ढल गया कि वहीं व्यवहार का निषेध हो जाता है।

अभव्य जीवों को तथा मिथ्यादृष्टि भव्यजीवों को स्वभाव का ध्यान आने पर भी स्वभाव की महिमा नहीं आती। ध्यान में आता है इसका अर्थ यहाँ पर सम्यक्ज्ञान में आने की बात नहीं है, किन्तु ज्ञानावरण के क्षयोपशम की प्रगटता में इस बात का ध्यान आता है। ग्यारह अंग के ज्ञान में सब बात आ जाती है कि—आत्मा का स्वभाव त्रिकाल है—राग क्षणिक है, किन्तु रुचि का वीर्य शुभ की ओर से नहीं हटता। बहुत गंभीर में स्वभाव की माहात्म्यदशा में वीर्य को लगाना चाहिये। वह उसे स्वयं नहीं करता इसलिए व्यवहार का पक्ष रह जाता है।

यहाँ पर अभव्य की बात तो मात्र दृष्टान्त के रूप में कही है, किन्तु सभी मिथ्यादृष्टि जीव कहीं न कहीं व्यवहार के पक्ष में अटक रहे है, इसीलिए उन्हें निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता। जैन साधु होकर और सच्चे देव, शास्त्र, गुरु को मानकर वे क्या कहते हैं यह ध्यान में भी लिया, किन्तु वर्तमान भाव के झुकाव से (अवस्था के लक्ष में रुककर) वीर्य बदलता है, उस वीर्य को वर्तमान से हटाकर त्रिकाली स्वभाव की ओर नहीं लगाता। वर्तमान पर्याय को वर्तमान से हटाकर त्रैकालिकता की ओर लगाये बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता, इसलिये सर्वज्ञ भगवान ने सदा निश्चय के आश्रय से व्यवहार का निषेध किया है।

जीव को सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा इत्यादि शुभरागरूप व्यवहार का पक्ष है—वर्तमान मात्र के भाव का आग्रह है, उसकी जगह यदि त्रैकालिकता की ओर वीर्य का बल लगाया जाय तो निश्चय का आश्रय प्राप्त हो, किन्तु त्रैकालिकता की ओर वीर्य का बल नहीं है, अर्थात् वीर्य पर में (पराश्रित व्यवहार में) ही अटक जाता है।

बाह्य के त्याग अथवा प्रवृत्ति पर सम्यग्दर्शन अवलम्बित नहीं है, किन्तु वह निश्चय स्वभाव पर आश्रित है। यदि जीव स्वभाव की ओर की रुचि में वीर्य का बल नहीं लगाता तो उसके व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता और सम्यग्दर्शन नहीं होता, सम्यग्दर्शन अन्तरंग स्वभाव की वस्तु है।

त्रैकालिक और वर्तमान इन दोनों पहलुओं का ध्यान आने पर भी त्रैकालिक स्वभाव की रुचि की ओर नहीं झुकता, किन्तु वर्तमान पर्याय की रुचि की ओर उन्मुख होता है। "यह स्वभाव है—यह स्वभाव है" इस प्रकार यदि स्वभाव रुचि की ओर झुके तो वर्तमान पर जो बल है वह तत्काल छूट जाय, किन्तु त्रिकाली स्वभाव को 'यह है' इस प्रकार रुचि में लेने के बदले वर्तमान शुभराग में 'यह राग है' इस प्रकार वर्तमान पर उसका भार रहता है, इसलिए त्रिकाल मात्र ज्ञायक स्वभाव में वीर्य का झुकाव

अंतरग में परिणमित नहीं होता, अर्थात् निश्चय का आश्रय नहीं होता और व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता। व्यवहार का पक्ष मिथ्यात्व है।

आत्मा का जो वीर्य करता है वह तो अवस्थारूप (वर्तमान) ही है, परन्तु उस वर्तमान वीर्य को वर्तमान के लक्ष पर (अवस्था–दृष्टि में) स्थिर करे और त्रैकालिक अंतरग स्वभाव की ओर वीर्य को प्रेरित न करे तो विकल्प नहीं टलता और सम्यग्दर्शन नहीं होता।

प्रत्येक जीव के वर्तमान अवस्था मे वीर्य का कार्य तो होता ही रहता है, किन्तु उस वीर्य को कहाँ स्थापित करना चाहिये यह भान न होने से जीव के व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता। "मैं एक ज्ञायकभाव हूँ, मैं वर्तमान अवस्था के बराबर नहीं हू, किन्तु अधिक त्रिकाल शक्ति का पिंड हूँ" इस प्रकार अपने निश्चय स्वभाव की रुचि के बल में वीर्य को स्थापित करना चाहिए–एकाग्र करना चाहिए। यदि निश्चय स्वभाव की ओर के बल में और रुचि में वीर्य को न जोड़े तो वह वीर्य व्यवहार के पक्ष में जुड जाता है, और उसके व्यवहार का सूक्ष्म पक्ष नहीं छूटता।

जब व्यवहार के पक्ष से छूटकर वीर्य में ज्ञायक स्वभाव का बल स्थापित किया जाता है तब भी व्यवहार का ज्ञान तो (गौणरूप में) रहता ही है, कहीं ज्ञान छूट नहीं जाता, क्योंकि वह तो सम्यक्ज्ञान का अंश है। व्यवहार का ज्ञान छूटकर निश्चय की दृष्टि नहीं होती। सम्यग्दर्शन के होने पर व्यवहार का ज्ञान तो रहता है, किन्तु उसपर से दृष्टि उठकर स्वभाव की ओर एकाग्र हो जाती है। इस प्रकार निश्चय के आश्रय के समय व्यवहार का पक्ष छूट जाने पर भी ज्ञान तो सम्यक्ज्ञानरूप अनेकान्त ही रहता है, किन्तु जब ज्ञान सर्वथा व्यवहार की ओर ढलता है तब निश्चनय का आश्रय किंचित् मात्र भी न होने से वह व्यवहार का पक्षवाला ज्ञान मिथ्यारूप एकान्त है। सम्यग्दर्शन होने के बाद निश्चय का आश्रय होने पर भी जबतक अपूर्ण भूमिका है तबतक व्यवहार रहता है,–किन्तु निश्चयनयाश्रित जीव को उस ओर आसक्ति नहीं होती, उसका वीर्य का बल व्यवहार की ओर नहीं ढलता।

सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की पहचान, नवतत्व का ज्ञान, ब्रह्मचर्य का पालन तथा पूजा, व्रत, तप और भक्ति-इत्यादि के करने पर भी जीव के मिथ्यात्व क्यों रह जाता है? क्योंकि जीव 'यह वर्तमान परिणाम ही मैं हूं और उसीसे मुझे लाभ है,' इस प्रकार वर्तमान पर ही लक्ष को स्थिर करके उसमें अटक रहा है, और त्रैकालिक एकरूप निरपेक्ष स्वभाव की ओर नहीं गया, इसीलिए मिथ्यात्व रह गया है। यदि जीव वर्तमान के ऊपर का लक्ष को छोड़कर त्रैकालिक स्वभाव को लक्ष में ले तो सम्यग्दृष्टि होता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन का आधार (आश्रयभूतवस्तु) त्रैकालिक स्वभाव है, वर्तमान प्रवृत्त पर्याय के आधार पर सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता।

निश्चय-अखंड अभेद स्वभाव की ओर जाते हुये बीच में जो विकल्पादिरूप व्यवहार आये उसके लिये खेद होना चाहिये, ऐसा न करके जो उसके प्रति उत्साहित होता है उसे स्वभाव के प्रति आदर नहीं रहता। अर्थात् वह मिथ्यात्वी ही रहता है। निश्चय स्वभाव की ओर के वीर्य का उल्लास होने के बदले व्यवहार में जिसका वीर्य उल्लसित होता है, उसके स्वभाव की ओर का उल्लसित भाव परावलंबित पड़ा रहता है। इसलिये जीव के व्यवहार का पक्ष दूर नहीं होता।

व्यवहार की रुचिवाला जीव भगवान की दिव्यध्वनि का उपदेश सुनकर उसमें से भी व्यवहार की ही रुचि को पुष्ट करता है। "भगवान की वाणी में निश्चय स्वभाव का और व्यवहार का – दोनों का मेल कर दिखाया है, अर्थात् दोनों नयों को समान स्तर पर रखा है," यों मानकर वह अज्ञानी जीव अपने व्यवहार के हठ को दृढ़ करता है; परन्तु भगवान की वाणी तो निश्चय का आश्रय करके व्यवहार का निषेध करने को कहती है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार दोनों के बीच परस्पर विरोध पाया जाता है, इसे वह अज्ञानी नहीं जानता, और न उधर रुचि ही करता है तथा व्यवहार का निषेध करके निश्चय में वीर्य को उल्लसित भी नहीं करता। निश्चय के आश्रय का उल्लास न होने से बीच में व्यवहार आता है, उसका खेद न करके कद्

दिया करता है कि 'व्यवहार तो बीच में आयेगा ही?' और इसप्रकार मिथ्यादृष्टि के व्यवहार की गहरी, सूक्ष्म मिठास विद्यमान रहती है, इसलिये वह अपने स्वभाव में उल्लसित होकर सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

प्रश्न—क्या ऐसे एकांत निश्चय नहीं हो जाता?

उत्तर—नहीं, इसी में सच्चा अनेकांत है। निश्चय स्वभाव और राग दोनों को जानकर जब वीर्य के बल को निश्चय स्वभाव में लाना होता है तब ज्ञान में गौणरूप से यह ध्यान तो होता ही है कि अवस्था में विकार होता है। स्वभाव की ओर लाने वाला जीव पर्याय की अपेक्षा से अपने को केवलज्ञानी नहीं मानता। इसप्रकार ज्ञान में निश्चय और व्यवहार दोनों को जानकर निश्चय का आश्रय और व्यवहार का निषेध किया है, और यही अनेकांत है। दोनों पक्षों को जानकर एक में आरूढ़ और दूसरे में अनारूढ़ हुआ—अर्थात् निश्चय को ग्रहण किया और व्यवहार को छोड़ा, बस यही अनेकांत है। किंतु यदि निश्चय और व्यवहार दोनों को आश्रय योग्य माने तो वह एकांत है। (दो नय परस्पर विरोधरूप हैं, इसलिये दोनों का आश्रय नहीं हो सकता। जीव जब निश्चय का आश्रय करता है तब उसके व्यवहार का आश्रय छूट जाता है और जब व्यवहार के आश्रय में अटक जाता है तब उसके निश्चय का आश्रय नहीं होता। ऐसा होने से जो दोनों नयों को आश्रय योग्य मानते हैं वे दोनों नयों को एकमेक मानने के कारण एकांतवादी हैं।) राग सम्यग्दर्शन में सहायता न करे किंतु 'राग मुझे सहायता नहीं करता' ऐसा विकल्प भी सहायता न करे तब इस प्रकार राग से मुक्त होकर जब जीव स्वभाव की ओर ढलता है तब मुख्य स्वभाव की (निश्चय की) दृष्टि होती है और अवस्था गौण हो जाती है। इस प्रकार निश्चय को मुख्य और व्यवहार को गौण करने से ही वह नय कहलाता है।

जिसे व्यवहार का पक्ष है वह जीव एकांत व्यवहार की ओर ढल जाता है, इसलिये वह निश्चय स्वभाव का तिरस्कार करता है। मात्र वर्तमान की ओर की उन्मुखता में इतना अधिक बल नहीं है कि वह विकल्प को तोड़कर

स्वभाव का दर्शन कराए । यदि दृष्टि में मात्र निश्चय स्वभाव पर भार न दे तो व्यवहार को गौण करके स्वभाव की ओर नहीं झुक सकता और सम्यग्द-र्शन नहीं हो सकता । यदि वर्तमान में होनेवाले विकारभाव की ओर के बल को क्षीण करके स्वभाव की ओर बल को लगाये तो अवस्था में स्वभावरूप कार्य हो सकता है । ज्ञान और वीर्य की दृढ़ता स्वभाव की ओर ढले तो वह निश्चय की मुख्यता हुई और रागादि विकल्प को जानकर भी उस ओर न ढला—उसे मुख्य न किया तो वही व्यवहारनय का निषेध है । वहाँ भी व्यवहार का ज्ञान है और उस ज्ञान में व्यवहार गौणरूप से विद्यमान है ।

ज्ञान और वीर्य के बल से स्वभाव की ओर जो मुख्यता होती है उस मुख्यता का बल वीतरागता और केवलज्ञान होने तक बना रहता है, बीचमें भले ही व्यवहार आये, किंतु कभी भी उसकी मुख्यता नहीं होती । छठे गुणस्थान तक राग रहेगा तथापि दृष्टि में कभी भी राग की मुख्यता नहीं होगी । त्रैकालिक स्वभाव ही मुख्य है अर्थात् दृष्टि के बलसे वह निश्चय स्वभाव की ओर ढलते ढलते और रागरूप व्यवहार को तोडते तोडते संपूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान हो जायगा । केवलज्ञान होने के बाद संपूर्ण नय पक्ष का ज्ञाता होने से वहाँ न कोई मुख्य रहता है और न गौण, और न कोई विकल्प ही रहता है ।

यह बतलाता है कि नव तत्त्वों की श्रद्धा और ग्यारह अंग का ज्ञान होने पर भी जीव का सम्यग्दर्शन कैसे रुक जाता है । त्रैकालिक और वर्तमान इन दोनों को क्षायोपशमिक ज्ञान से जाना तो अवश्य किन्तु वर्तमान की दृढ़ता वाला त्रैकालिक स्वभाव की ओर झुक नहीं सकता और त्रैकालिक स्वभाव की ओर उन्मुख होनेवाला प्रथम दोनों का विचार करके स्वभावोन्मुख होता है । जो स्वभाव की दृढ़ता प्राप्त कर लेता है वह व्यवहार को फीका कर देता है । यद्यपि अभी व्यवहार का सर्वथा अभाव नहीं हुआ, किन्तु जैसे २ स्वभाव की ओर ढलता जाता है वैसे २ व्यवहार का अभाव होता जाता है ।

वस्तु को मात्र ज्ञान के ध्यान में लेने से ही सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता, किन्तु ज्ञान के साथ वीर्य के उस ओर के बल की आवश्यकता है । यहाँ ज्ञान और

वीर्य दोनों के बल को स्वभावोन्मुख करने की बात है। शुभ राग से मेरा स्वभाव भिन्न है, इसप्रकार का जो ज्ञान है उस ओर वीर्य को ढालते ही तत्काल सम्यग्दर्शन हो जाता है। यदि स्वभाव की रुचि करे तो वीर्य स्वभाव की ओर ढले, किन्तु जिसके राग की पुष्टि और रुचिभाव है उसका व्यवहार की ओर का झुकाव दूर नहीं होता। जहाँ तक मान्यता में और रुचि के वीर्य में निरपेक्ष स्वभाव नहीं रुचता और राग रुचता है—वहाँ तक एकान्त मिथ्यात्व है।

जीव अशुभ भाव को दूर करके शुभ भाव तो करता है परन्तु वह शुभ-भाव में धर्म मानता है, यह स्थूल मिथ्यात्व है। जीव अशुभ को दूर करके शुभभाव करता है और शास्त्रादि के ज्ञान से यह भी समझता है कि शुभ राग से धर्म नहीं होता, तथापि मात्र चैतन्यस्वभाव की ओर का वीर्य न होने से उसके मिथ्यात्व रह जाता है। मात्र चैतन्यस्वभाव की ओर के बल से वर्तमान की ओर से हटना चाहिये, यही दर्शनविशुद्धि है। यहाँ ज्ञान की प्रगटता अथवा कषाय की मन्दता या त्याग पर भार नहीं दिया किन्तु दर्शनविशुद्धि पर ही सम्पूर्ण भार है।

जैसे किसी से सलाह पूछी और उसके कथन को ध्यान में भी रखा, परन्तु उसके अनुसार मानने के लिए तैयार नहीं होता। तात्पर्य यह है कि उस बात पर ध्यान तो दिया किन्तु तदनुसार आचरण नहीं किया। इसीप्रकार शास्त्र के कथन से यह तो जान लिया कि निश्चय के आश्रय से मुक्ति और व्यवहार के आश्रय से बंध होता है, इसप्रकार उस सलाह को ध्यान में लेकर भी उसे नहीं माना। शास्त्रकथित दोनों पहलुओं को ध्यान में तो लेता है परन्तु मानता वही है जो उसकी रुचि में होता है, और रुचि तो [illegible] शास्त्र का ज्ञातृत्व काम नहीं

उसे दिव्यध्वनि का आशय तो ध्यान में आ जाता है कि 'भगवान यों कहना चाहते हैं' किन्तु उस ओर वह रुचि नहीं करता। क्षयोपशम भाव से

मात्र धारणा से ध्यान करता है, परन्तु वह यथार्थतया रुचि से नहीं समझता। यदि यथार्थतया रुचि से समझे तो सम्यग्दर्शन हुए बिना न रहे।

स्वभाव की बात उस वर्तमान विकल्प के राग से भिन्न होती है। स्वभाव की रुचि के साथ जो जीव स्वभाव की बात को सुनता है वह उस समय राग से आंशिक भिन्न होकर सुनता है। यदि स्वभाव की बात सुनते सुनते उकता जाये अथवा यह विचार आये कि यह तो कठिन मार्ग है, और इसप्रकार स्वभाव की ओर अरुचि मालूम हो तो समझना चाहिए कि उसे स्वभाव की अरुचि और राग की रुचि है, क्योंकि वह यह मानता है कि राग में मेरा वीर्य काम कर सकता है, और रागरहित स्वभाव में नहीं कर सकता। यह भी उसे वर्तमान मात्र के लिए व्यवहार का पक्ष है। स्वभाव की बात सुनकर उस ओर महिमा लाकर इसप्रकार स्वभाव की ओर वीर्य का उल्लास होना चाहिए कि 'अहो' यह तो मेरा ही स्वरूप बतला रहे हैं'। किन्तु यदि यों माने कि 'यह काम मुझसे नहीं होगा' तो समझना चाहिए कि वह वर्तमान मात्र के लिए राग के चक्कर में पड़ गया है और राग से प्रथक् नहीं हुआ। हे भाई! यदि तूने यह माना कि तुझसे राग का कार्य हो सकता है और राग से अलग होकर रागरहित ज्ञान का कार्य जो कि तेरा स्वभाव ही है तुझसे नहीं हो सकता, तो समझना चाहिए कि त्रैकालिक स्वभाव की अरुचि होने से तुझे सूक्ष्मरूप में राग के प्रति मिठास है—व्यवहार की पकड़ है, और यही कारण है कि सम्यग्दर्शन नहीं होता।

जहाँ रागरहित ज्ञायकस्वभाव की बात आये वहाँ यदि जीव को ऐसा लगे कि 'यह काम कैसे होगा'? तो समझना चाहिए कि उसका वीर्य व्यवहार में अटक गया है, अर्थात् उसे स्वभाव की दृष्टि से सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। जो सूक्ष्म ज्ञानस्वभाव है उसकी मिठास छूटी कि राग की मिठास आ गई। जीव कभी निश्चय स्वभाव की अपूर्व बात को नहीं समझा और उसके किसी न किसी प्रकार से व्यवहार की रुचि रह गई है।

पं० जयचन्दजी श्री समयप्राभृत में कहते हैं कि प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादिकाल से ही विद्यमान है, और इसका उपदेश भी बहुधा सभी प्राणी परस्पर करते हैं, तथा जिनवाणी में शुद्धनय का हस्तावलम्बन समझ कर व्यवहार का उपदेश बहुत किया है किन्तु इसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष कभी नहीं आया और उसका उपदेश भी विरल है—क्वचित् क्वचित् है, इसलिए उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि-"शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, इसका आश्रय लेने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है। इसे जाने बिना जीव जबतक व्यवहार में मग्न है तबतक आत्मा के ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता"।

आत्मा के निश्चय स्वभाव की बात करने पर व्यवहार गौण हो जाता है, वहाँ यदि स्वभाव के कार्य के लिए वीर्य न करे और व्यवहार के लिए रुचि करे तो समझना चाहिए कि उसे स्वभाव की रुचि नहीं है और स्वभाव की ओर की रुचि के बिना वीर्य स्वभाव में काम नहीं कर सकता, अर्थात् उसकी व्यवहार की दृढ़ता दूर नहीं होती।

यह निश्चयनय व्यवहार का निषेध करता है यह बात ज्ञानियों ने बारबार कही है, उसमें व्यवहार के स्वरूप का ज्ञान भी उसी के साथ आ जाता है। निश्चयनय जिस व्यवहार का निषेध करता है वह व्यवहार कौन सा है? कुदेव आदि की मान्यतारूप जो ज्ञान है, सो मिथ्यात्व पोषक है, उसका तो निषेध ही है, क्योंकि उसमें व्यवहारत्व भी नहीं है। कुदेव आदि की मान्यता को छोड़कर सच्चे देव गुरु, शास्त्रों में जो कहा है, उसके ज्ञान को व्यवहार कहा गया है, और वह ज्ञान भी निश्चय सम्यग्दर्शन का मूलकारण नहीं है, इसलिये निश्चय स्वभाव के बल से उस व्यवहार का निषेध किया गया है। यहाँ पर गृहीतमिथ्यात्व की तो बात ही नहीं है, किन्तु यहाँ पर अगृहीत, सूक्ष्म मिथ्यात्वदशा में जो व्यवहार है उसका निषेध है। जो सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के अतिरिक्त अन्य किसी कुदेव आदि को सत्यार्थरूप से

मानता है वह ज्ञान तो व्यवहार मे भी बहुत दूर है। जिन निमित्तों की ओर से वृत्ति को उठाकर स्वभाव मे ढलना होता है वे निमित्त क्या हैं, इसका जिसे विवेक नहीं है, उसे स्वभाव का विवेक तो हो ही नहीं सकता। और यह भी नियम नहीं है कि जो सच्चे निमित्तों की ओर झुकता है उसे स्वभाव का विवेक होना ही है। किन्तु ऐसा नियम है कि जो निश्चय स्वभाव का आश्रय लेता है उसे सम्यग्दर्शन अवश्य होता है; इसीलिये निश्चयनय मे व्यवहारनय का निषेध है।

शास्त्र की ओर का, विकल्प से जो ज्ञान है सो व्यवहार है। उस ज्ञान की ओर से वीर्य को हटाकर उसे स्वभाव की ओर मोडा जाता है। सत् के निमित्त की ओर के भाव से जैसा पुण्य-बंध होता है वैसा पुण्य अन्य निमित्तों के झुकाव से नहीं बधता, अर्थात् लोकोत्तर पुण्य भी सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के विकल्प से होता है। किन्तु वह ज्ञान अभी पर की ओर उन्मुख है, निश्चय स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं है, इसलिये उसका निषेध है। जैसे पागल मनुष्य का ज्ञान निर्णयहीन होता है इसलिये उसका माता को माता के रूप मे जानने का जो ज्ञान है वह भी अयथार्थ है, इसीप्रकार अज्ञानी का स्वभाव की ओर का निर्णयरहित ज्ञान दोषित हुए बिना नहीं रह सकता।

सर्वज्ञ भगवान के कथन की ओर जो झुकाव है वह भी व्यवहार की ओर का झुकाव है। वीतराग शासन में कथित जीवादि नवतत्त्वों की विकल्प से जो सच्ची श्रद्धा है सो पुण्य का कारण है, क्योंकि उसमें भेद का और पर का लक्ष है। परलक्ष धर्म का कारण नही है। जो जीव निमित्त से अविरुद्ध है किन्तु निमित्त की ओर से चलकर अभी स्वभाव की ओर नहीं झुका उसे निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है।

आचारांग इत्यादि सच्चे शास्त्र जीवाजीवादिक नवतत्वों का स्वरूप और एकेन्द्रियादिक छह जीवनिकायों का प्रतिपादन वीतराग जिनशासन के अतिरिक्त अन्य किसी में तो है ही नहीं, परन्तु वीतराग जिनशासन में कहे अनुसार शास्त्रो का सच्चा ज्ञान करे, जीवादिक नवतत्वों की यथार्थ श्रद्धा करे और छह जीवनिकायों को जानकर उनकी दया पालन करे तो वह भी पुण्य का कारण

है। और उसे व्यवहार दर्शन, ज्ञान, चारित्र (जो जीव निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट करेगा उसके लिए) कहा जाता है, किन्तु परमार्थदृष्टि उसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र के रूप में स्वीकार नहीं करती, क्योंकि जिनशासन के व्यवहार तक आना सो धर्म नहीं है, किन्तु यदि निश्चय आत्मस्वभाव की ओर ढलकर उस व्यवहार का निषेध करे तो वह धर्म है। इसप्रकार निश्चयनय व्यवहार का निषेध करता है।

इस व्याख्यान में यह बताया है कि अज्ञानी को व्यवहार की सूक्ष्म पकड़ कहाँ रह जाती है? तथा निश्चयनय का आश्रय कैसे होता है? अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीवों को मिथ्यात्व क्योंकर रह जाता है तथा सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट होता है यह बताया है।

इस विषय से सम्बन्धित कथन मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी आता है वह इस प्रकार है — "सत्य को जानता है तथापि उसके द्वारा अपना अयथार्थ प्रयोजन ही सिद्ध करता है इसलिए वह सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता"।

ज्ञान के क्षयोपशम मे निश्चय—व्यवहार दोनों का ज्ञान होता है, तथापि अपने बल को निश्चय की ओर ढालना चाहिये, उसकी जगह व्यवहार की ओर ढालता है इसलिए व्यवहार का पक्ष रह जाता है।

अज्ञानी व्यवहार-व्यवहार करता है और ज्ञानी निश्चय के आश्रय से व्यवहार का निषेध ही निषेध करता है।

"श्री समयसारजी में कहा है कि—जिसे ऐसा आगम ज्ञान हो गया है कि जिसके द्वारा समस्त पदार्थों को हस्तामलकवत् जानता है, और यह भी जानता है कि इसका जानने वाला मैं हूँ परन्तु मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इस-प्रकार अपने को परद्रव्य से भिन्न केवल चैतन्यद्रव्य अनुभव नहीं करता" अर्थात् स्व—पर को जानता हुआ भी अपने निश्चय स्वभाव की ओर नहीं झुकता, किन्तु व्यवहार की पकड में अटक जाता है, इसलिये वह कार्यकारी नहीं है, क्योंकि वह निश्चय का आश्रय नहीं लेता।

श्रुतपंचमी।

ज्ञानस्वभावी आत्मा है, वह ज्ञान अभी भी इन्द्रियों के अवलंबन से जानता है या इन्द्रियों के बिना ही? यदि वर्तमान ज्ञान इन्द्रिय से जानता है तो सामान्य ज्ञानस्वभाव के वर्तमान विशेष का अभाव होगा। यदि ज्ञान इन्द्रिय से जानता हो तो उस समय जो सामान्य ज्ञान है उसका विशेष क्यों होगा? आत्मा का ज्ञान इन्द्रिय से नहीं किन्तु सामान्य ज्ञान की विशेष अवस्था से जानता है। यदि वर्तमान में जीव विशेष ज्ञान से नहीं जानता हो और इन्द्रिय से जानता हो तो विशेष ज्ञान ने कौनसा कार्य किया? आत्मा इन्द्रिय से ज्ञान का कार्य करता ही नहीं है। ज्ञान स्वयमेव विशेषरूप जानने का कार्य करता है। निम्नदशा में भी जड़-इन्द्रिय और ज्ञान एकत्रित होकर जानने का कार्य नहीं करते, परन्तु सामान्य ज्ञान जो आत्मा का त्रिकाल स्वभाव है उसीका विशेषरूप ज्ञान वर्तमान जानने का कार्य करता है।

प्रश्न—यदि ज्ञान का विशेष ही जानने का कार्य करता है तो फिर बिना इन्द्रिय के जानने का कार्य क्यों नहीं होता?

उत्तर—ज्ञान की उसप्रकार की विशेषता की योग्यता नहीं होती तब इन्द्रिय नहीं होती। और जब इन्द्रिय होती है तब ज्ञान जानने का कार्य तो अपने आप ही करता है, क्योंकि ज्ञान परावलम्बन रहित है। मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २६४ में कहा है कि 'निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान करना चाहिये,' यह उसी का विवरण चल रहा है। इन्द्रिय के होते हुये भी ज्ञान स्वतंत्ररूप से अपनी अवस्था से जानता है। यदि यह माना जायगा कि

ज्ञान इन्द्रिय से जानता है तो इसका अर्थ यह होगा कि ज्ञान का विशेष स्वभाव काम नही करता। और ऐसा होने पर बिना विशेष के सामान्य ज्ञान का ही अभाव हो जायगा। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान इन्द्रिय से नहीं जानता। अल्पज्ञान जब अपने द्वारा जानता है तब अनुकूल इन्द्रियां उपस्थित होती हैं, किन्तु ज्ञान उनकी सहायता से नहीं जानता। इसप्रकार जान लेना ही निमित्त—नैमित्तिक संबंध का ज्ञान है। किन्तु यदि यह माना जायगा कि ज्ञान इन्द्रिय से जानता है तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान होगा। क्योंकि इस मान्यता में निमित्त और उपादान एक हो जाता है।

आचार्यदेव शिष्य से पूछते हैं कि यदि जीव ने इन्द्रिय द्वारा ज्ञान प्राप्त किया तो सामान्य ज्ञान ने कौनसा कार्य किया? उस समय तो उसका अभाव ही मानना होगा न?

शिष्य ने उत्तर देते हुए कहा कि भले ही ज्ञान—विशेष नहीं हो तो भी ज्ञान सामान्य तो त्रिकाल में रहेगा ही? और जानने का काम इन्द्रिय से होगा। ऐसा होने से ज्ञान का नाश नहीं होगा—अभाव नहीं होगा।

आचार्यदेव का उत्तर—निर्विशेष सामान्य तो 'खरगोश के सींग' जैसा (अभावरूप) है। बिना विशेष के सामान्य हो ही नहीं सकता। इसलिये निर्विशेष सामान्यज्ञान मानने से सामान्य का नाश या अभाव हो जायगा, इसलिये यदि यह माना जाय कि विशेष ज्ञान से ही जाननेरूप कार्य होता है तो ही सामान्य ज्ञान का अस्तित्व रह सकेगा।

ज्ञानस्वभाव राग और निमित्त के अवलंबन से रहित है, और विशेष ज्ञान सामान्यज्ञान में से ही आता है, ऐसा जानकर उसकी श्रद्धा—ज्ञान और स्थिरता करना यही धर्म है।

यदि ज्ञान इन्द्रिय से जानता है तो फिर उसका वर्तमान कार्य कहां गया? यदि इन्द्रिय की उपस्थिति में ज्ञान इन्द्रिय के कारण जानता है तो उस समय सामान्य ज्ञान विशेष पर्यायरहित कहलाया, किन्तु बिना विशेष के सामान्य तो होता नहीं है। जहां सामान्य होगा वहां उसका विशेष होगा ही।

अब प्रश्न यह होता है कि वह विशेष सामान्यज्ञान से होता है या निमित्त से ? विशेषज्ञान निमित्त को लेकर तो हुआ नहीं है, किन्तु सामान्य स्वभाव से हुआ है। विशेष का कारण सामान्य है, निमित्त उसका कारण नहीं है। यदि यह अंशतः या पूर्णतः निमित्त का कार्य माना जाय तो निमित्त जो परद्रव्य है वह परद्रव्यरूप ज्ञान हो जायगा। आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्थिर है, वह सामान्य और वर्तमान कार्यरूप ज्ञान का विशेष है। सामान्यज्ञान का विशेष, स्थिर ज्ञानस्वभाव का परिणमन या ज्ञान की वर्तमान दशा (पर्याय) कुछ भी कहो, वह सब एक ही है।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, वह केवल जानने का ही काम करता है। शब्द को, रूप को या किसी को भी जानने के लिये ज्ञान एक ही है, ज्ञान में कोई अन्तर नहीं हो जाता। आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्वयमेव है, वह किसी के निमित्त से नहीं है। आत्मा का जो त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव है वह अपने आप ही विशेषरूप कार्य करता है। आत्मा इन्द्रिय से जानता ही नहीं, वह ज्ञान की विशेष अवस्था से ही जानता है। सामान्यज्ञान स्वयं परिणमन करके विशेषरूप होता है, वह विशेषरूप जानने का कार्य करता है। यह मानना अधर्म है कि ज्ञान दूसरे के अवलम्बन से जानता है। ज्ञान स्वावलम्बन से जानता है इसप्रकार की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता धर्म है।

यहां, परावलम्बन रहित ज्ञान की स्वाधीनता बताई गई है। यह जयधवला शास्त्र की विशेषता है। और भी अनेक बातें है जिसमें से यह एक विशेष है।

मेरे ज्ञान का परिणामरूप वर्तन उसका वर्तनरूप विशेष व्यापार (उपयोग) मेरे द्वारा होता है; उसे किसी दूसरे निमित्त की या परद्रव्य की आवश्यक्ता नहीं है, अर्थात् ज्ञान कभी भी स्वाधीनता से हटकर परावलम्बन में नहीं जाता। इसलिये वह ज्ञान स्वयं समाधान और सुखस्वरूप है। ज्ञान का स्वाधीन स्वभाव होने से ही निगोद से लेकर सिद्ध जीवों तक सबको ज्ञान होता है, परन्तु जैसा हो रहा है वैसा अज्ञानी नहीं मानता, इसलिये उसकी मान्यता में विरोध आता है।

सभी जीवों का सामान्य ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञान का विशेष कार्य अपने सामान्य स्वभाव के अवलम्बन से ही होता है। इसलिये राग या पर निमित्त के अवलम्बन के बिना ही ज्ञान कार्य करता है, अत ज्ञान राग या सयोग से रहित है।

आज (श्रुतपचमी) से २००० वर्ष पहले सातवें-छट्ठे गुणस्थान में झूलते हुये महान् सत मुनियों ने-आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने (ज्ञान प्रभावना का विकल्प उठते ही) महान् परमागम शास्त्रों (षट्खण्डागम) की रचना करके अंकलेश्वर में उत्साहपूर्वक श्रुतपूजा की थी। उस श्रुतपूजा का मांगलिक दिन ज्येष्ठ शुक्ल पचमी है।

मेरा ज्ञानस्वभाव सदा स्थिर रहे, मेरे ज्ञान की अटूट धारा बहती रहे, अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न हो, इसप्रकार वास्तव में अतरग में पूर्णता की भावना उत्पन्न होने पर, उन्हें बाहर ऐसा विकल्प उठा कि श्रुतज्ञान-आगम स्थिर बना रहे, यह विकल्प उठते ही महान परमागम शास्त्रों की रचना की, और उनकी श्रुतपूजा की, वही मगल दिन आज (ज्येष्ठ शुक्ला पचमी) है। वास्तव में दूसरे के लिये भावना नहीं है, किन्तु अपने ज्ञान की अटूट धारा बहने की भावना है। और तब इन शास्त्रों की रचना हुई है। इस शास्त्रों में अनेक बातें हैं; उनमें से आज मुख्य दो विशेष बातें कहना हैं।

ज्ञान इद्रिय से नहीं जानता। यदि ज्ञान बिना कार्य अर्थात् विशेष के बिना रहे, तो वर्तमान विशेष के बिना सामान्य किसे जानेगा? यदि विशेष न हो तो सामान्यज्ञान ही कहाँ रहा? यदि वर्तमान पर्यायरूप विशेष को नहीं मानेंगे तो ' सामान्य ज्ञान है ' इसका बिना विशेष के निर्णय कौन करेगा? निर्णय तो विशेष ज्ञान करता है। वर्तमान विशेषज्ञान (पर्याय) के द्वारा परावलम्बन रहित सामान्य ज्ञान स्वभाव जैसा है वैसा ही जानना, इसीमें धर्म का समावेश हो जाता है।

ज्ञान राग को जानता है, पर को जानता है, इन्द्रिय को जानता है, परन्तु वह किसी को अपना नहीं मानता, ज्ञान का ऐसा स्वभाव है। जो विकार को अथवा

पर को अपना नहीं मनाता, उसे दुःख नहीं होता। मेरे ज्ञान को कोई परावलम्बन नहीं है, ऐसे स्वाधीन स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करे तो उस स्वभाव में शंका या दुःख हो ही नहीं सकता। इसका कारण यह है कि ज्ञानस्वभाव स्वयं सुखरूप है।

निगोद से लेकर समस्त जीवों में कोई भी जीव इन्द्रिय से नहीं जानता। जिसे सबसे अल्प ज्ञान है ऐसा निगोदिया जीव भी स्पर्शन इन्द्रिय से नहीं जानता, किन्तु वह अपने सामान्य ज्ञान के परिणमन से होने वाले विशेष ज्ञान के द्वारा जानता है। वह यों मानता है कि मुझे इन्द्रिय से ज्ञान हुआ है। परन्तु जब जीव को सामान्य ज्ञान स्वभाव के अवलम्बन से (सामान्य की ओर एकाग्रता होने से) विशेष ज्ञान होता है तब वह सम्यक् मतिरूप होता है, और उस मति की ज्ञानरूप अंश में बिना परावलम्बन ज्ञानस्वभाव की पूर्णता की प्रत्यक्षता आती है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव किसी संयोग के कारण से नहीं है, यदि ऐसे स्वाधीन ज्ञानस्वभाव को न जाने तो धर्म नहीं होता। धर्म कहीं बाह्य में नहीं किंतु अपना ज्ञानानंद स्वभाव ही धर्म है, इसमें तो समस्त शास्त्रों का रहस्य आजाता है। यह बात भी इसमें आगई कि कोई किसी का कुछ भी करने को समर्थ नहीं है। जड़-इन्द्रिय आत्मा के ज्ञान की अवस्था नहीं करती और आत्मा का ज्ञान पर का कुछ नहीं करता, इसप्रकार ज्ञानस्वभाव की स्वतंत्रता सिद्ध होगई।

सभी सम्यक् मतिज्ञानियों का ज्ञान बिना निमित्त के अवलंबन सामान्य स्वभाव के अवलंबन से कार्य करता है, इसलिये सर्व निमित्तों के अभाव में-संपूर्ण असहाय होकर सामान्य स्वभाव के अवलंबन से विशेषरूप जो केवल-ज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष है उसका निर्णय वर्तमान मतिज्ञान के अंशद्वारा उसे हो सकता है। यदि पूर्ण असहाय ज्ञानस्वभाव मतिज्ञान के निर्णय में न आये तो वर्तमान विशेष अंशरूप ज्ञान (मतिज्ञान) पर के अवलंबन के बिना प्रत्यक्षरूप है यह निर्णय भी न हो। सामान्य स्वभाव के आश्रय से जो

विशेषरूप मतिज्ञान प्रगट हुआ है उस मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। जो अंश प्रगट हुआ है वह अंशी के आधार के बिना प्रगट नहीं हुआ है, इसलिये अंशी के निर्णय के बिना अंश का निर्णय नहीं होता।

अहो! श्रुत पंचमी के दिन इस जयधवला में जो केवलज्ञान का रहस्य भरा गया है उसकी मुख्य दो विशेषताएँ हैं, जिनकी स्पष्टता प्रगट होती है-- (१) अपने ज्ञान की विशेषरूप अवस्था परावलंबन के बिना स्वाधीन भाव से है (२) उस स्वाधीन अंश में समस्त केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, यह दो मुख्य विशेषताएँ हैं।

सामान्य स्वभाव की प्रतीति करता हुआ जो वर्तमान निर्मल स्वावलंबी ज्ञान प्रगट हुआ वह साधक है, और वह पूर्ण साध्यरूप केवलज्ञान को प्रत्यक्ष जानता हुआ प्रगट होता है। वह साधक ज्ञान स्वाधीनभाव से अपने कारण से, भीतर के सामान्य ज्ञान की शक्ति के लक्ष्य से विशेष-विशेषरूप में परिणमन करता हुआ साध्य केवलज्ञान के रूप में प्रगट होता है, उसमें कोई बाह्यावलंबन नहीं है, किन्तु सामान्य ज्ञानस्वभाव का ही अवलंबन है।

इसे जानना ही धर्म है। आत्मा का धर्म आत्मा के ही पास है। अशुभभाव से बचने के लिये शुभभाव होता है, उसे ज्ञान जानलेता है, किन्तु उसका अवलंबन ज्ञान नहीं मानता अर्थात् सर्व निमित्त के बिना पूर्ण स्वाधीन केवलज्ञान का निर्णय करता हुआ और प्रतीति में लेता हुआ स्वाश्रित मति-ज्ञान सामान्य स्वभाव के अवलंबन से प्रगट होता है, इसप्रकार ज्ञान का कार्य परावलंबन से नहीं होता, किन्तु स्वाधीन स्वभाव के अवलंबन से होता है। इसमें ज्ञान की स्वतंत्रता बताई है।

ज्ञान की भाँति श्रद्धा की स्वतंत्रता।

आत्मा में श्रद्धागुण त्रिकाल है। सामान्य श्रद्धागुण का जो विशेष है सो सम्यग्दर्शन है। श्रद्धागुण का वर्तमान यदि देव, शास्त्र, गुरु इत्यादि पर के आश्रय से परिणमन करे तो उस समय श्रद्धागुण ने कौनसा विशेष कार्य

किया। श्रद्धा सामान्य गुण है; उसका विशेष सामान्य के अवलंबन से ही होता है। सम्यग्दर्शनरूप विशेष पर के अवलबन से कार्य नहीं करता, किन्तु सामान्य श्रद्धा के अवलम्बन से ही उसका विशेष प्रगट होना होता है। सम्यग्दर्शन उस श्रद्धागुण की विशेष दशा है। श्रद्धा गुण है, और सम्यग्दर्शन पर्याय है। श्रद्धा गुण के अवलबन से सम्यग्दर्शनरूप विशेष दशा प्रगट होती है। यदि देव, शास्त्र, गुरु इत्यादि पर के अवलबन से श्रद्धा का विशेष कार्य होता हो तो सामान्य श्रद्धा का उस समय विशेष क्या है? विशेष के बिना सामान्य कदापि नहीं होता। आत्मा की श्रद्धा की वर्तमान अवस्था के रूप में जो कार्य होता है वह त्रैकालिक श्रद्धा के नाम के गुण का है, वह कार्य किसी के पर के अवलबन से नहीं किन्तु सामान्य का विशेष प्रगट हुआ है। विशेष के बिना सामान्य श्रद्धा हो ही नहीं सकती।

आनन्दगुण की स्वाधीनता।

ज्ञान–श्रद्धा गुण के अनुसार आनन्दगुण के सम्बध में भी यही बात है, वह आत्मा का वर्तमान आनद यदि पैसा इत्यादि पर के कारण से परिणमन करे तो उस समय आनदगुण ने स्वय वर्तमान विशेष कौनसा कार्य किया है। यदि पर से आनद प्रगट हुआ तो उस समय आनदगुण का विशेष कार्य कहां गया? अज्ञानी ने पर में आनद माना, उस समय भी उसका आनदगुण स्वाधीनतापूर्वक कार्य करता है। अज्ञानी ने आनद का वर्तमान कार्य उल्टा माना अर्थात् आनदगुण का विशेष उसे दुःखरूप परिणमित होता है। आनद पर से प्रगट नहीं होता किन्तु संयोग और निमित्त के बिना आनद नाम के सामान्य गुण के अवलबन से वर्तमान आनद प्रगट होता है, इसके समझ लेने पर लक्ष का भार पर के ऊपर न जाकर सामान्य स्वभाव पर जाता है और उस सामान्य के अवलबन से विशेषरूप आनददशा प्रगट होती है। सामान्य आनद स्वभाव के अवलबन से प्रगट हुआ आनद का अश पूर्ण आनंद की प्रतीति को लेकर प्रगट होता है। यदि आनद के अश में पूर्ण की प्रतीति न हो तो अंश आया कहाँ से?

चारित्र वीर्य इत्यादि सर्व गुणों की स्वाधीनता।

इसीप्रकार चारित्र वीर्य इत्यादि समस्त गुणों का विशेष कार्य सामान्य के अवलम्बन से ही होता है। आत्मा का पुरुषार्थ यदि निमित्त के अवलंबन से कार्य करता हो तो अन्तरंग के सामान्य पुरुषार्थ स्वभाव ने क्या किया? क्या सामान्य स्वभाव विशेष के बिना ही रहा? विशेष के बिना सामान्य रहता हो सो तो बन नहीं सकता। प्रत्येक गुण का वर्तमान (विशेष अवस्था-रूप कार्य) सामान्य स्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है। कर्म पुरुषार्थ रोकता है यह बात ही मिथ्या होने से खंडित होगई। किसी भी गुण का कार्य यदि निमित्त के अवलंबन से अथवा राग के अवलंबन से होता हो तो उस समय सामान्य स्वभाव का विशेष कार्य न रहे और यदि विशेष न हो तो सामान्य गुण ही सिद्ध नहीं होते। सभी गुण त्रिकाल हैं, उनका कार्य किसी निमित्त अथवा राग के अवलंबन से ज्ञानियों के नहीं होता, किन्तु अपने *ही सामान्य के अवलंबन से होता है। यह स्वाधीन स्वरूप जिसके जम गया* उसे पूर्ण की प्रतीतियुक्त गुण का अंश प्रगट होता है। जिसके पूर्ण की प्रतीति सहित ज्ञान प्रगट होता है उस की अल्पकाल में मुक्ति अवश्य होजाती है। जिस सामान्य के बल से एक अंश प्रगट हुआ उसी सामान्य के बल से पूर्णदशा प्रगट होती है। विकल्प के कारण सामान्य विशेष की अवस्था नहीं होती। यदि विकल्प के कारण विशेष होता हो तो विकल्प का अभाव होने पर विशेष का भी अभाव हो जाय। वर्तमान विशेष सामान्य से ही प्रगट होता है, विकल्प से नहीं, इसे समझना ही धर्म है। प्रत्येक द्रव्य की स्वाधीनता की यह स्पष्ट बात है दो और दो चार जैसी सीधी सरल बात है, उसे न समझकर उसकी जगह यदि जीव इसप्रकार पराश्रयता माने कि सब कुछ निमित्त से होता है और एक दूसरे का करता है तो यह सब मिथ्या है, यह उसकी मूलभूल है। यदि पहले ही दो और दो तीन मानने की भूल होगई हो तो उसके बाद की भी सभी भूल होती जायगी। इसीप्रकार *मूल वस्तुस्वभाव की मान्यता में जिसकी भूल हो उसका सब मिथ्या है।*

स्वाधीनता से प्रगट हुआ अंश पूर्ण को प्रत्यक्ष करता है।

परद्रव्य जगत में भले हों, पर निमित्त भले हों, जगत में सर्व वस्तुओ का अस्तित्व है किन्तु वह कोई वस्तु मेरी विशेष अवस्था करने के लिये समर्थ नहीं है, मेरे आत्मा के सामान्य स्वभाव का अवलबन करके मेरी विशेष अवस्था होती है–वह स्वाधीन है । और यह स्वाधीनता से प्रगट होने वाला विशेष ही पूर्ण विशेषरूप केवलज्ञान का कारण है । जो विशेष प्रगट होता है वह पूर्ण को प्रत्यक्ष करता हुआ प्रगट होता है ।

प्रश्न—वर्तमान अश पूर्ण–प्रत्यक्ष कैसे होता है ?

उत्तर—जहाँ विशेष को पर का अवलबन नहीं रहता और मात्र सामान्य का अवलबन रहता है वहाँ प्रत्यक्ष होता है, यदि निमित्त की बात करो तो परोक्ष में आयगा, किन्तु जहाँ निमित्त अथवा विकाररहित मात्र सामान्य स्वभाव का अवलबन है वहा विशेष प्रत्यक्ष ही होता है, अश मे पूर्ण–प्रत्यक्ष ही होता है । यदि अश में पूर्ण–प्रत्यक्ष न हो तो अश ही सिद्ध न हो । 'यह अश है' यह तभी निश्चय हो सकता है जब अशी प्रत्यक्ष हो । यदि अशी अर्थात् पूर्ण प्रत्यक्ष न हो तो अंश भी सिद्ध न हो ।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी वास्तव में तो सामान्य के अवलंबन से होने के कारण प्रत्यक्ष हैं । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को जो परोक्ष कहा है सो वह तो 'पर को जानते समय इन्द्रिय का निमित्त है,' इसप्रकार निमित्त–नैमित्तिक सबध का ज्ञान करने के लिये वह कथन किया है किन्तु स्व को जानने पर तो वह ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही है ।

परावलबन रहित सामान्य के अवलबन से मेरा विशेष ज्ञान होता है, इसप्रकार जिसके सामान्य स्वभाव की प्रतीति जम गई उसका विशेष ज्ञान दूसरे को जानते समय भी स्व के अवलबन से युक्त जानता है, इसलिये वास्तव में तो वह भी प्रत्यक्ष ही है । जिसके निमित्तरहित स्वाधीन ज्ञान–स्वभाव प्रतीति में जम गया उसके समस्त ज्ञान प्रत्यक्ष ही है ।

जिस ज्ञान में यह निश्चय किया कि 'यह खंभे का एक कोर है' उस ज्ञान में सारा खंभा ध्यान में आ ही गया है, जहाँ यह निश्चय किया कि 'यह पृष्ठ समयसार का है' वहाँ सारा समयसार ग्रंथ है और उसका पृष्ठ है, इस प्रकार ज्ञान के निर्णय में पूर्ण और अंश दोनों आगये। 'यह समयसार का पृष्ठ है' यह कहने पर यह भी निश्चय हो गया कि उसके आगे पीछे के सभी पृष्ठ किसी अन्य ग्रंथ के नहीं हैं किन्तु समयसार के ही हैं, इस प्रकार सारा ग्रंथ ध्यान में आ जाता है। सारे ग्रंथ को ध्यान में लिये बिना यह निश्चय नहीं हो सकता कि 'यह अंश उस ग्रंथ का है।' इसीप्रकार 'यह मतिज्ञान उस केवलज्ञान का अंश है' इसप्रकार समस्त केवलज्ञान प्रत्यक्ष लक्ष में आये बिना निश्चित नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि ज्ञान अनुद्घटित अन्य अंश तो अभी शेष है न ? उसका समाधान—यहाँ सारे अवयवी—पूर्ण की बात है, दूसरे अंशों की बात नहीं है। यहाँ पर अंश के साथ अंशी का अभेद बताया है। 'यह ज्ञान का भाग है वह पूर्ण ज्ञान का अंश न हो तो वह अंश है' यह कहाँ से निश्चय किया ? वर्तमान अंश के साथ अंशी अभिन्न है, वर्तमान अंश मे सारा अंशी अभेदरूप में लक्ष में आगया है, इसलिये जीव यह प्रतीति करता है कि यह अंश इस अंशी का है।

वर्तमान अंश और पूर्ण अंशी का अभेद भाव है। यहाँपर दूसरे अंश के भेद भाव की बात नहीं ली गई। अंशी में सब अंश आगये हैं। यहाँ पर मतिज्ञान और केवलज्ञान का अभेद भाव बताया है। मतिज्ञान अंश है और केवलज्ञान अंशी है। अंश—अंशी अभिन्न हैं, इसलिये यह समझना चाहिये कि मतिज्ञान मे केवलज्ञान प्रत्यक्ष आजाता है।

स्वाधीनता की प्रतीति में केवलज्ञान।

आचार्य भगवान ने आत्मा को स्वाधीन पूर्ण स्वभाव बताया है। तू आत्मा है, तेरा ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञान स्वभाव की विशेष अवस्था तेरे अपने सामान्य स्वभाव के अवलंबन से होती है सामान्य स्वभाव के अवलंबन से विशेषरूप जो मतिज्ञान प्रगट हुआ है वह पूर्ण केवलज्ञान के साथ अभेद-स्वभाव वाला है। निमित्त और राग के अवलम्बन से रहित सामान्य के

अवलंबन वाला ज्ञान स्वाधीन स्वभाव वाला है। मतिज्ञान और केवलज्ञान के बीच के भेद को वह नहीं गिनता, जिसके यह बात जम जाती है उसे केवलज्ञान के बीच कोई विघ्न नहीं आ सकता, यह तीर्थंकर केवलज्ञानी की वाणी केवलज्ञान का घोष करती आई है। आचार्यदेवों के केवलज्ञान का ही घोष हो रहा है। बीच में भव ग्रहण होता है और केवलज्ञान में बाधा आती है यह बात यहाँ बिल्कुल गौण कर दी गई है। यहाँ तो सामान्य स्वभाव के लक्ष्य मे जो अंश प्रगट हुआ है उस अंश के साथ ही केवलज्ञान अभेद है, इस प्रकार केवलज्ञान की बात की गई है। केवलज्ञानियों की वाणी केवलज्ञान का घोष करती हुई आई है और केवलज्ञान के उत्तराधिकारी आचार्यों ने यह बात परागम शास्त्रों में संग्रह की है। तू भी केवलज्ञान को प्राप्त करने की तैयारी में है तू अपने स्वभाव के बलपर हां कह। अपने स्वभाव की प्रतीति के बिना पूर्ण-प्रत्यक्ष का विश्वास जागृत नहीं होता।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्वाधीन है, कभी भी बिना विशेष के ज्ञान नहीं होता। जिस समय विशेष में थोडा ज्ञान था वह अपने से ही था और जो विशेष में पूरा होता है वह भी अपने से ही होता है, उसमें किसी पर का कारण नहीं है। इसप्रकार जीव यदि ज्ञानस्वभाव की स्वाधीनता को जान ले तो वह पर में न देखकर अपने में ही लक्ष करके पूर्ण का पुरुषार्थ करने लगे।

सामान्य किसी भी समय निर्विशेष नहीं होता, प्रत्येक समय सामान्य का विशेष कार्य तो होता ही है। चाहे जितना छोटा कार्य हो तो भी वह सामान्य के परिणमन से होता है। निगोद से लेकर केवलज्ञान तक आत्मा की सर्व परिणति अपने से ही है इसप्रकार जहाँ स्वतंत्रता की ध्वनि अपनी प्रतीति में आती है वहीं परावलंबन दूर हो जाता है। मेरी परिणति मुझसे ही कार्य कर रही है, इसप्रकार की प्रतीति में आवरण और निमित्त के अव-लंबन का चूरा हो जाता है।

आत्मा के अनंतगुण स्वाधीनतया कार्य करते हैं। कर्ता, भोक्ता, ग्राहकता, स्वामित्व इत्यादि अनंतगुणों की वर्तमान परिणति निमित्त और विकल्प के आश्रय के बिना अपने आप ही प्रगट होती है। जो यह मानता है वह जीव को गुण के अवलंबन से प्रगट हुआ अंश पूर्णता को प्रत्यक्ष करनेवाले अंश के साथ ही पूर्ण को अभिन्न मानता है एवं अंश और पूर्णता के बीच के भेद को दूर कर देता है, इसलिये जो भाव प्रगट होता है वह भाव यथार्थ और अप्रतिहत भाव है।

इस बात से इन्कार करने वाला कौन है? यदि कोई इन्कार करे तो वह अपना इन्कार कर सकता है, इस बात से इन्कार करने वाला कोई है ही नहीं। निर्ग्रंथ संत मुनि ऐसे अप्रतिहत भाव से उद्यत होते हैं कि जिससे ज्ञान की धारा में भंग पड़े बिना निर्विघ्नतया केवलज्ञानरूप हो जाते हैं। निर्ग्रंथ आचार्यों ने इस दिन (श्रुतपंचमी) को बड़े ही उत्सवपूर्वक मनाया था।

मेरे ज्ञान के मति श्रुत के अंश स्वतंत्र है, उन्हें किसी पर का अवलंबन नहीं है, ऐसा प्रतीति होने पर किसी निमित्त का अथवा पर का लक्ष नहीं रहता। सामान्य स्वभाव की ओर ही लक्ष रहता है। इस सामान्य स्वभाव के बल से जीव को पूर्णता का पुरुषार्थ करना होता है। पहले पर के निमित्त से ज्ञान का होना माना था तब वह ज्ञान पर लक्ष में अटक जाता था किन्तु स्वाधीन स्वभाव से ज्ञान होता है ऐसी प्रतीति होने पर ज्ञान को कहीं भी प्रतिरोध नहीं रहता।

मेरे ज्ञान में पर का अवलंबन अथवा निमित्त नहीं है अर्थात् केवलज्ञान वर्तमान प्रत्यक्ष ही है। इसप्रकार सामान्य स्वभाव के कारण से जो ज्ञान परिणमित होता है उस ज्ञानधारा को तोड़ने वाला कोई है ही नहीं। अर्थात् स्वाश्रय से जो ज्ञान प्रगट हुआ है वह केवलज्ञान की ही पुकार करता हुआ प्रगट हुआ है। वह ज्ञान अल्पकाल ही में केवलज्ञान को अवश्य प्राप्त करेगा। ज्ञान के अवलंबन से ज्ञान कार्य करता है ऐसी प्रतीति में समस्त केवलज्ञान समा जाता है।

पहले ज्ञान की अवस्था अल्प थी, पश्चात् जब वाणी सुनी तब ज्ञान बढ़ा, किन्तु वह वाणी के सुनने से बढ़ा है यह बात नहीं है लेकिन जहां ज्ञान की अवस्था बढ़ी वहां सामान्य स्वभावी ज्ञान ही अपने पुरुषार्थ से कषाय को कम करके विशेषरूप में हुआ है अर्थात् अपने कारण से ही ज्ञान हुआ है ऐसी प्रतीति होने पर स्वतंत्र ज्ञानस्वभाव के बल से पूर्णज्ञान का पुरुषार्थ करना चाहिये। ज्ञानियों को स्वतंत्र ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बल से वर्तमान हीनदशा में भी केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, केवलज्ञान प्रतीति में आगया है। अज्ञानी के स्वतंत्र ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं होती, इसलिये उसे यह ज्ञान नहीं होता कि पूरी अवस्था कैसी होती है तथा उसे पूर्णशक्ति की भी प्रतीति नहीं होती।

अनेक प्रकार के निमित्त बदलते जाते हैं और उसने निमित्त का अवलंबन माना है, इसलिये उसके निमित्त का लक्ष्य बना रहता है तथा स्वतंत्र ज्ञान की प्रत्यक्षता की श्रद्धा उसके नहीं जमती। 'मेरा वर्तमान ज्ञान मुझसे होता है, मेरी शक्ति पूर्ण है और इस पूर्णशक्ति के आश्रय से पुरुषार्थ के द्वारा पूर्णज्ञान प्रगट होता है,' ज्ञानी को इसप्रकार की प्रतीति है। जिस ज्ञान के अंश से ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की वह ज्ञान केवलज्ञान को प्रत्यक्ष करता हुआ ही प्रगट हुआ है, अर्थात बीच में जो शेष है, भेद पड़ा हुआ है वह दूर होकर ज्ञान पूर्ण ही होना है। इसप्रकार सामान्य ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करने पर पूर्ण में लक्ष्य लेता हुआ जो विशेष ज्ञान प्रगट हुआ है वह बीच के भेद को (मति और केवलज्ञान के बीच के भेद को) उड़ाता हुआ पूर्ण के साथ ही अभेद भाव को करता हुआ प्रगट हुआ है। बीच में एक भी भव नहीं है। भवतार भी किसके है वर्तमान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष है उस बल पर, बीच में जो एकाध भव है उससे आचार्य ने इन्कार किया है। आचार्यदेव ने अत्रुटतया केवलज्ञान की ही बात कही है। यह बात जिसके जम जाती है उसे भव कदापि नहीं होता।

द्रव्यदृष्टि

" प्रत्येक द्रव्य पृथक्-पृथक् है, एक द्रव्य का दूसरे के साथ वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है." इस प्रकार जो यथार्थतया जानता है उसकी द्रव्यदृष्टि होती है, और द्रव्यदृष्टि के होने पर सम्यक्‌दर्शन होता है, जिसके सम्यकदर्शन होता है उसे मोक्ष हुए बिना नहीं रहता, इसलिये सर्वप्रथम वस्तु का स्वरूप जानना आवश्यक है ।

प्रत्येक द्रव्यपृथक–पृथक है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता, ' ऐसा मानने पर वस्तुस्वभाव का इसप्रकार ज्ञान हो जाता कि-- आत्मा सर्व परद्रव्यों से भिन्न है तथा प्रत्येक पुद्गलपरमाणु भिन्न है, दो परमाणु मिलकर एकरूप होकर कभी कार्य नहीं करते किन्तु प्रत्येक परमाणु भिन्न ही है ।

जीव के विकारभाव होने में निमित्तरूप विकारी परमाणु (स्कन्ध) हो सकते हैं, किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से देखने पर प्रत्येक परमाणु पृथक् ही है, - दो परमाणु कभी भी नहीं मिलते और एक पृथक् परमाणु कभी भी विकार का निमित्त नहीं हो सकता, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य भिन्न है, ऐसी स्वभावदृष्टि से कोई द्रव्य अन्य द्रव्य के विकार का निमित्त भी नहीं है । इसप्रकार द्रव्यदृष्टि से किसी द्रव्य में विकार है ही नहीं, जीवद्रव्य में भी द्रव्यदृष्टि से विकार नहीं है ।

पर्यायदृष्टि से जीव की अवस्था में रागद्वेष होता है और उसमें कर्म निमित्तरूप होता है, किन्तु पर्याय को गौण करके द्रव्यदृष्टि से देखा जाये तो कर्म

कोई वस्तु ही नहीं रहा, क्योंकि वह तो स्कन्ध है, और उसके प्रत्येक परमाणु पृथक्–पृथक् कार्य करते हैं, इसलिये जीव के विकार का निमित्त कोई द्रव्य न रहा, अर्थात् अपनी ओर से लिया जाये तो जीवद्रव्य में विकार ही नहीं रहा। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य भिन्न है ऐसी दृष्टि अर्थात् द्रव्यदृष्टि के होने पर राग–द्वेष की उत्पत्ति का कारण ही न रहा, अर्थात् द्रव्यदृष्टि में वीतरागभाव की ही उत्पत्ति रही।

अवस्थादृष्टि से–पर्यायदृष्टि से अथवा दो द्रव्यों के संयोगी कार्य की दृष्टि में राग–द्वेषादिभाव होते हैं। 'कर्म' अनन्त पुद्गलों का संयोग है, उस संयोग पर या संयोगी भाव पर लक्ष दिया कि राग–द्वेष होता है, किन्तु यदि ऐसी दृष्टि करे (वास्तव में अपने असंयोगी आत्मस्वभाव की दृष्टि करे) कि असंयोग अर्थात् प्रत्येक परमाणु भिन्न भिन्न है तो राग–द्वेष न हो, किन्तु उस दृष्टि के बल से मोक्ष ही हो। इसलिये द्रव्यदृष्टि का अभ्यास परम-कर्तव्य है।

आभार प्रदर्शन

वस्तुविज्ञानसार की हिंदी तथा गुजराती आवृत्तियों की पांच-पांच हजार प्रतियां वितरण करने के लिये निम्नलिखित भाई बहिनों ने जो आर्थिक सहायता प्रदान की है, तदर्थ आभार

१०००) श्री. वीरजीभाई वकील जामनगर के पुत्रों की ओर से उनकी बहिन मणीबाई तथा रामबाई के स्मरणार्थ

१०००) श्री. कालिदास राघवजी जसाणी, राजकोट

१०००) साभराय निवासी श्री. रतन बहिन, कच्छ

३००) श्री. गलालचन्द जेठाभाई पारेख, जामनगर

१२५) श्री. हरगोवन देवचन्द मोदी, सोनगढ

१०१) सेठ चुनीलाल हठीसंग, जामनगर

१०१) श्री. नर्मदा बहिन रणछोडदास, राजकोट

१०१) श्री. कुसुम बहिन वहेचरदास, राजकोट

१०१) श्री. छोटालाल नारणदास भागनेशवाला

१०१) श्री. छगनलाल लघुभाई चेलावाला, जामनगर

३६३०) कुल